सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 20

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

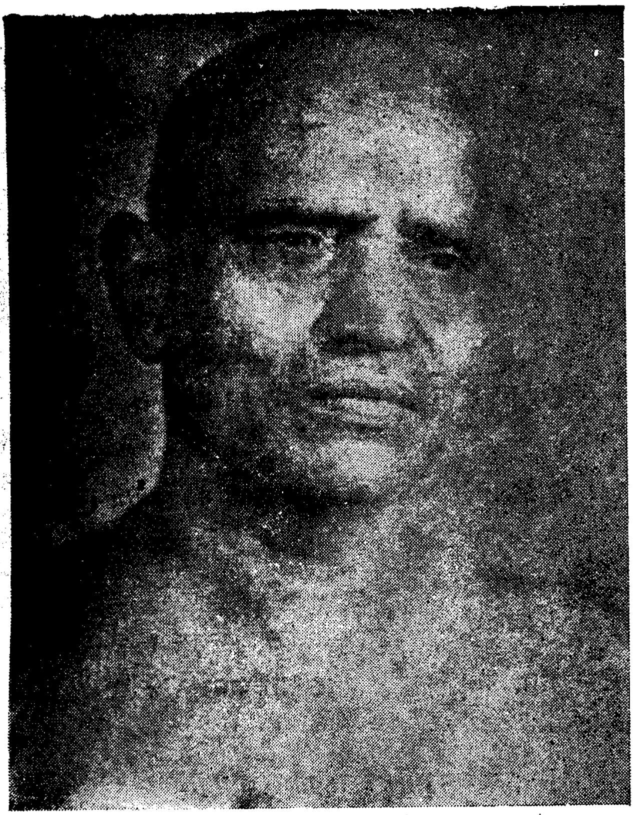

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।
जय जय अविकारी,
स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी,
शाश्वत स्वविहारी ॐ···॥टेक॥
काम क्रोध मद लोभ न माया,
समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन,
सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ····
हे स्वभावमय जिन तुमि चीना,
भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत,
सहत बिपति भारी ॥२॥ ॐ····
परसम्बंध बंध दुख कारण,
करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन,
चहुं गति दुखहारी ॥३॥ ॐ···
ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ····
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ···

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोक्षशास्त्र प्रवचन

विंश भाग

※ सप्तम अध्याय ※

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥७-१॥

(१०७) **पञ्च व्रत और उनकी शुभास्रवहेतुता**—छठे अध्याय तक जीव, अजीव व आश्रव पदार्थका वर्णन हुआ था, किन्तु वह आश्रवका सामान्य वर्णन था और उसमें १०८ तरहके साम्परायिक आश्रव बताये गए। जीवाधिकरण आश्रव १०८ प्रकारके होते हैं और इसी कारण मालामें १०८ दाने माने गए हैं, उसका आशय यह है कि एक बार भगवानका नाम लिया तो मेरा यह पाप खत्म हो जाय तो वे सब आश्रव दो प्रकारके होते हैं–(१) पुण्य और (२) पाप। तो पहले जो आस्रवका वर्णन हुआ वह सामान्य वर्णन था तथा कुछ वर्णन पापास्रवकी प्रधानतासे भी था जैसे चारों घातिया कर्मोंका अलग-अलग वर्णन सूत्रोंमें था। इन घातिया कर्मोंमें विशेष अधिक पापानुभागी कर्म मोहनीय कर्म है उसके आस्रवोंके भी कारण बताये गये थे। उन विवरणोंसे यह शिक्षा दी गई थी कि ऐसे ऐसे पापकार्योंसे बचने का पूरा ध्यान रखना चाहिये। तीर्थंकरप्रकृति, सातावेदनीय, शुभ नामकर्म, उच्चगोत्र जैसे पुण्यकर्मोंके आस्रवके भी कारण बताये गये थे जिनसे सद्भावनाओंकी शिक्षा मिली थी। अब व्रत संयम भावके होनेपर होने वाले पुण्य आश्रवका वर्णन किया जा रहा है। पापसे पुण्य प्रधान है, मोक्ष पुण्यपूर्वक होता है, पाप करके कोई मोक्ष नहीं गया, पुण्य करके पुण्यको छोड़कर शुद्ध भावमें आकर मोक्ष हुआ करता है। साक्षात् तो पुण्यसे भी मोक्ष नहीं होता, पुण्य करनेसे तुरन्त मोक्ष नहीं होता। पुण्य करने वालेकी ऐसी पात्रता रहती है कि वह मोक्ष के मार्गमें लग जायगा, तो जब मोक्षमार्गमें लगा और बढ़ा तो उसका पुण्य भी छूट गया। पाप तो पहले छूट गया था, अब पुण्य भी छूट गया, अब उसके शुद्धोपयोग आ गया और शुद्धोपयोगसे मोक्ष होता है। तो मतलब यह है कि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता है इस कारणसे पुण्यके आश्रव बताना चाहिए कौनसा हमारा परिणाम है जिससे पुण्यका आश्रव होता है। उसका वर्णन करनेके लिए सप्तम अध्यायके प्रारम्भमें यह सूत्र कहा है—"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"

(१०८) **शान्तिलाभके लिये धर्मलाभकी अनिवार्यता**—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिग्रह इन ५ पापोंसे विरक्त होना व्रत कहलाता है। कोई नास्तिक लोग ऐसा भ. सकते हैं कि मनुष्य जीवन पाया तो मौजसे बिताओ। व्रत, तप, कष्ट करके करनेसे क्या फायदा है? कोई लोग ऐसा सोच सकते हैं और उनकी दृष्टिमें धर्मका कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन निष्पक्षरूपसे सोचा जाय तो हर एक कोई जीवनमें शान्ति चाहता है, सो यह खूब नजर करके देख लो कि किसी पर पदार्थमें, किसी विषयमें किसीके आधीन बनकर रहनेमें शान्ति मिलती है या सब बखेड़ोंको दूर करके आरामसे बैठनेमें शान्ति मिलती है, तो अपने अपने अनुभव सभी बतायेंगे कि दूसरेके आधीन रहनेमें शान्ति नहीं मिलती और जो विषयों के आधीन रहेंगे वे परतंत्र रहेंगे। तो परतंत्रतामें शान्ति नहीं है, स्वतंत्रतामें शान्ति है और स्वतंत्रता भी कैसी? देखिये हम आप सबका परिणाम धर्मके लिए चाहता तो है पर धर्मका जो मूल स्रोत है, कहांसे धर्म निकलता है और किसका सहारा लेनेसे धर्म निकलता है इसका ज्ञान न होनेसे धर्मके नामपर परिश्रम बहुत कर डालते हैं और शान्ति नहीं मिलती। उसका कारण क्या है कि अभी तक धर्मका स्रोत नहीं जाना कि धर्म धरा कहाँ है? हम यह ख्याल करते हैं कि धर्म हमें मंदिरसे मिल जायगा, अमुक चीजसे मिल जायगा, केवल इतना ख्याल है। किन्तु, ध्यान यह होना चाहिये कि धर्मस्वरूप तो हमारा आत्मा है। आत्माका स्वभाव ज्ञान है वही धर्मस्वरूप है और इसी धर्मस्वरूप आत्माका जिन्होंने सहारा लिया है वे अरहंत सिद्ध भगवान हुए हैं।

(१०६) **धर्मसाधनोंकी धर्मदृष्टिप्रयोजकता**—हम मंदिर इसलिए जाते कि हम अरहंत सिद्ध भगवानके गुण सोचेंगे और उससे हमको अपने आत्माकी खबर मिलेगी और आत्माका कुछ सहारा लेंगे तो हमें धर्म मिलेगा सो यह दृष्टि तो नहीं है, पर सीधी दृष्टि यह है कि हमको इस मंदिरसे धर्म मिलेगा याने मंदिरकी भीतोंसे या मन्दिरकी मूर्तिसे। अरे धर्म तो आत्माको मिलेगा उस आत्माके स्वरूपसे ही, पर वह मिले कैसे? तो उस आत्मस्वरूपकी सुध करनेके लिए हम भगवानके मंदिरमें जायेंगे और वहाँ भगवानके स्वरूपको विचारेंगे तो हमारे यहाँ वहाँके ख्याल सब दूर हो जायेंगे और उस समय जो हमको अपने आत्माका स्पर्श होगा उससे आनन्द जगेगा। आनन्द हमेशा अपने आत्मासे ही जगेगा, दूसरे पदार्थसे जगेगा नहीं। भगवानकी भक्ति करते समय भी जितना आनन्द जग रहा है वह भगवानसे निकलकर नहीं जग रहा है किन्तु इस आत्मामें से उठ उठकर जग रहा है। तो इसकी जिसको खबर हो जाय उसे अपने आपमें आनन्द मिलेगा और जिसको अपनी ही खबर नहीं है उसे आनन्द कहांसे मिलेगा? तो यह तथ्य निकला कि आत्मा इस जीवनमें सुख शान्ति चाहता है। तो परलोक है या नहीं इस बातको भी छोड़ दो, पर इस समय हमको शान्ति मिलनेका ढंग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या है यह तो समझ लो।

(११०) **विषयोंसे विरति होनेमें ही सबको लाभ**—कोई नास्तिक कहते कि न तो स्वर्ग है, न नरक है, हमें तो ये कहीं दिखते नहीं इसलिए क्यों धर्म करना, क्यों व्रत तप आदि करके कष्ट उठाना ? अच्छा तो चलो थोड़ी देरको उनकी ही बात मान लो स्वर्ग, नरक नहीं हैं, पर इस जीवनमें भी तो सुख शान्ति चाहिए ना ? तो निर्णय करो कि संसारके ये पदार्थ जो हमारी इन्द्रियके विषयभूत हैं इनकी गुलामी करनेमें आकुलता होती कि सुख मिलता ? कोई बता देंगे कि आकुलता मिलती है, सुख शान्ति नहीं मिलती तो इस ही जीवनको शान्त बनानेके लिए आवश्यक है कि विषयोंका मोह छोड़े। अभी यह हम उसको कह रहे जो कि परलोक नहीं मानते और अगर परलोक आया तो आगे जाकर सुख शान्ति पायेंगे। अगर मान लो पर लोक है नहीं तो इस जीवनमें तो सुख शान्तिसे रह लेंगे। हर दृष्टियोंसे विषयों की प्रीति छोड़ना सुख शान्तिके लिए आवश्यक है। नहीं तो देखो विषयोंमें रमते रमते जिन्दगी गुजर जाती और जैसे जैसे जिन्दगी गुजरती है वैसे ही वैसे यह अपनेको रीता अनुभव करता है कि मेरेको कुछ नहीं मिला, मेरेको कुछ नहीं रखा। तो अगर विषयोंसे सुख होता तो जिन्दगी भर विषय भोगे वे सब जोड़ जोड़कर आज कुछ सुखका भंडार रहता, पर बात तो इससे उल्टी दिख रही। ज्यों ज्यों जिन्दगी बीतती जा रही, वृद्धावस्थामें आते हैं त्यों त्यों और भी दुःखी होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थोंमें सुख नहीं भरा है। सुख मिलेगा तो अपने आत्मा में मिलेगा, आत्माके आलम्बनसे मिलेगा।

(१११) **मायाके प्रति आस्थाका कारण व्यामोह स्वप्न**—यहाँ तो अज्ञान छाया है सो यह जीव इस दिखने वाली दुनियाको सच मान रहा। जैसे कि सोते हुएमें कोई स्वप्न आ जाय तो स्वप्नमें देखी हुई बात सच मालूम होती है ऐसे ही मोहकी नींदमें जो ये घटनायें दिख रही हैं वे सब सच मालूम हो रही हैं। यह मानता है कि मेरा नाम फैलेगा, यश फैलेगा, कीर्ति चलेगी, मेरा बड़प्पन चलेगा मगर इस मायामयी दुनियामें यश किसका नाम है ? अनन्ते चौबीस तीर्थंकर अब तक हो चुके, समयकी कोई आदि तो नहीं है, अब तक कितने ही चौथेकाल व्यतीत हो चुके उस कालमें २४ तीर्थंकर होते आये, बताओ आज उनके नाम भी कोई जानता है क्या ? उनकी तो बात छोड़ो, आजके ही २४ तीर्थंकरोंके नाम कोई नहीं जानते, बिरले ही लोग जानते, तो काहेका नाम। अब वे भगवान सिद्ध होते हैं तो हम उन्हें जानें या न जानें, वे तो अपने अनन्त आनन्दमें लीन हैं, उनमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। तो बताओ यश नामवरी न रहनेसे कोई दुःख होता है क्या ? बल्कि यश नामवरी जब चलती है तो कष्ट होता है, जिसका नाम बढ़ा है वह हमेशा यह ख्याल रखता है कि मेरे यशमें कमी न आये, मेरा यश कहीं मिट न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाय, तो वह उस शल्यके मारे धर्मसे दूर हो जाता है।

(११२) **शान्तिका आधार अन्तस्तत्त्व**—शान्ति मिलेगी तो अपने आपके आत्माकी दृष्टि करनेसे मिलेगी, अन्य प्रकारसे नहीं, यह बात सुननेको मंदिरमें मिलती है, यह बात निरखनेको मूर्तिमें मिलती है इस लिए हम दर्शन करते हैं। कहीं यहाँ मंदिरके ईंट, भीट, फर्श आदिसे धर्म न मिलेगा। कहीं किसी स्थानसे धर्म नहीं मिला करता किन्तु वह स्थान धर्मका साधन है। उस धर्मस्थानपर रहकर धर्मका काम करेंगे तो धर्म मिलेगा, उस स्थानपर भी यदि धर्मका कोई काम न करे तो कोई जगहमें आने भरसे शान्ति नहीं मिलती। और, कभी थोड़ा मंदिरकी जगहमें बैठनेसे भी शान्ति मिलती है तो वह भी धर्मके प्रतापसे ही मिलती है, जगह के प्रतापसे नहीं। वहाँ जाकर भी धर्मके भाव थोड़े हुए तो थोड़ी शांति, अधिक हुए तो अधिक शान्ति मिलती है, तो शान्ति अपने धर्मभावसे मिलती है।

(११३) **धर्मलाभके लिये पापविरतिकी अनिवार्यता**—धर्मको पानेके लिए पहले यह आवश्यक है कि पापोंको छोड़ा जाय। कोई पाप भी करता रहे और धर्म भी चाहता रहे, ये दो बातें नहीं हो सकतीं। जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समा सकतीं, ऐसे ही धर्म और पाप ये दोनों एक साथ रह नहीं सकते। अगर धर्म करना हो तो पाप छोड़ना ही होगा। चूंकि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता, पुण्यसे मोक्ष नहीं होता, पर पुण्य होकर भाव शुद्ध हों और वीतराग दशामें आये तो पुण्य छूटकर मोक्ष हो, मगर पुण्यमें आये बिना मोक्ष नहीं होता और पुण्यके छोड़े बिना मोक्ष नहीं होता। ये दो बात कैसे कही? अगर कोई पुण्यके मार्गमें न चले तो वह उस मार्गको पा नहीं सकता कि जिस मार्गसे चलकर वह अपने घर पहुंचे। जैसे मानो कोई एक छोटी गली गई है, और वह एक बड़ी सड़कसे मिली है, उस बड़ी सड़क से चलकर मानो आपको किसी नगर पहुंचना है, अब उस नगरमें पहुंचनेके लिए, वह सड़क तो धीरे-धीरे छूटती ही जायगी। उस सड़कके छोड़े बिना उस नगरमें नहीं पहुंचा जा सकता, तो ऐसे ही समझो कि मुझे पुण्यमार्गसे चलकर मोक्ष प्राप्त करना है तो धीरे धीरे वह पुण्य छूटता जायगा, शुद्ध भाव बढ़ता जावेगा तभी तो मोक्ष मिल पायगा। पुण्यके किये बिना व पुण्यके छोड़े बिना मोक्ष तो न मिल पायगा। बताओ धर्म नाम है क्या? तो जहाँ रागद्वेष न रहे और केवल ज्ञानमें ज्ञानका अनुभव रहे उसका नाम धर्म है, और पुण्य नाम किसका है? तो अरहंत सिद्ध भगवानमें भक्ति करना, धर्मानुराग करना, प्रभावना करना यह सब पुण्य कहलाता है। तो पुण्यमें जिसको पुण्य न करना आये उसको धर्म करना न आ पायगा, मगर मोक्ष मिलेगा धर्मसे ही, पुण्यसे नहीं। इतना अन्तर है इस कारणसे कि चूंकि मोक्ष पुण्यपूर्वक होता है। यहाँ पूर्वकका अर्थ पहले होता है यह लेना।

http://sahjanandvarnishastra.org/

(११४) **मोक्षमार्गमें व्रतोंकी परिष्कृतता**—जिस पुण्यपूर्वक मोक्ष होता है उस पुण्य भावको बतानेके लिए यह सूत्र कहा गया है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ पापोंसे विरक्त होना व्रत है। देखिये—जैसे भोजनका नाम लेने मात्रसे पेट नहीं भरता, खानेसे पेट भरता ऐसे ही धर्मकी बातें करने मात्रसे अपना उद्धार नहीं होता, किंतु जो धर्मका स्वरूप है उसे करें तो उद्धार होगा। तो अपने आपमें यह खोज कीजिए कि हम रागद्वेष छोड़कर ज्ञानके सही मार्गमें कितना चल पाते हैं और धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदिमें, यहाँ वहां की फिजूलकी बातोंमें हम कितना दिल बसाया करते हैं, यह हिसाब जरूर परखना चाहिए। अगर हम रागमें, विषयोंमें ही फँसे रहकर अपना जीवन बिताते हैं तो वह जीवन बेकार समझियें। क्योंकि वे सब बातें तो पशु पक्षीके भवमें भी मिल जातीं। बताओ एक गायको अपने बछड़ेसे कम प्यार होता है क्या ? नहीं होता, तब फिर बताओ इस मनुष्यभवमें आकर ऐसा कौनसा अपूर्व काम कर लिया जो किसी अन्य भवमें नहीं किया ? जो आत्माका स्वरूप जानेगा, पाप उसीके अच्छी तरह कटेंगे। एक बनावटी ढंगसे या जबरदस्तीके ढंगसे पाप छोड़नेसे पाप न छूटेंगे और एक आत्माके स्वरूपका ज्ञान होनेके बाद जो एक सहज वैराग्य जगता है उसके कारण जो पाप छूटते हैं वे मूलसे पाप छूटते। जैसे किसी बच्चेसे कोई कहे कि रे बच्चे तू क्रोध न करनेका नियम ले ले और वह कहे कि हम यह नियम न निभा पायेंगे, फिर भी कोई जबरदस्ती करे। मानो क्रोधके समय उसके मुखमें पानी भर दे, वह कुछ बोल न सके तो भी बताओ उसका क्रोध दूर हो गया क्या ? हाँ इतनी बात तो है कि यह अन्तर आ जायगा कि वह अपने क्रोधकी बातको मुखसे बोल न पायगा, जिससे लड़ाई न हो पायगी, मगर भीतरमें चाहें कि उसके क्रोध न रहे तो यह बात हो नहीं सकती, क्योंकि उसके मनमें संस्कार तो बना ही है। उस संस्कारके कारण क्रोध तो उसे आयगा ही। और, जिस समय उसको यह ज्ञान होगा कि मेरे आत्माका स्वरूप कषाय करनेका है ही नहीं, अविकार स्वरूप हूँ मैं, ज्ञानमात्र हूं मैं, तो वह अपने ज्ञानकी उपासनाके बलसे क्रोधको जड़से उखाड़ फेंकता है। तो जबरदस्तीके त्यागसे मूलतः पाप नहीं मिटते, किन्तु आत्माका ज्ञान होनेपर फिर त्याग हो तो मूलसे पाप मिटते हैं। फिर भी इतना फर्क हो सकता है कि किसी से जबरदस्ती भी मनाईकी करें कि तुम छोड़ दो तो कुछ दिनको तो मान लो त्यागे रहा वह चीज, संकोचवश उसका ग्रहण वह न कर सका, मगर बादमें वह उसका ख्याल भूल सकता है और वह फिर उसी मार्गमें लग सकता है। तब भी वह सच मार्गमें तो तब लग सकता है जब कि उसको आत्माका ज्ञान हो। इसलिए आत्माका धन ज्ञान है, दूसरा कोई वास्तविक धन आत्माका नहीं है।

http://www.jainkosh.org

(११५) **सुख शान्तिका आधार विकारपरिहारक ज्ञानबल**—सुख शान्तिसे रहना है तो ज्ञानके बलसे रहा जा सकता है, कोई दूसरा बल काम न देगा। मोक्षमें भी कोई जायगा तो वह ज्ञानके बलसे ही जायगा, किसी दूसरेके बलसे नहीं। जो बहुत तपश्चरण होते हैं— बैठ गए गर्मीमें सर्दीमें तो उन तपश्चरणोंमें आत्माको ज्ञानमें लीन होनेका एक उपाय बनता है, मगर देह-तपनसे मोक्ष हो जाय सो बात नहीं। गर्मीमें बैठकर तपश्चरण किया तो उस स्थितिमें आत्माको ज्ञानप्रेरणा मिलती है। विषयोंसे वैराग्य जगा उससे मोक्ष मार्ग मिला। सो भैया, करना तो सब पड़ेगा बाह्य व्यवहार चारित्र, मगर भीतरमें अन्तरात्मामें जोर देते हुए जो ज्ञानमें चलेगा उसको मोक्षकी प्राप्ति होगी। जब ज्ञान ही नहीं है तो फिर क्या करेगा? इसलिए आत्माका जैसे ज्ञान मिले, ज्ञान भी वास्तविक वह जो कि विषयविरतिसमृद्ध हो ऐसा ज्ञान मिले उस उपायमें लगना चाहिए और उसका उपाय क्या है? तो मुख्य उपाय उसके हैं दो— १–स्वाध्याय और २–सत्संग। इन दो साधनोंके सहारेसे ज्ञानमें चलनेकी प्रेरणा मिलेगी। इन दो साधनोंसे अपने आपको जीवनमें बढ़ावें और ये जो बाहरी संग प्रसंग है घर द्वार, स्त्री पुत्रादिक ये तो मरनेपर छूटेंगे ही, ये साथ तो देंगे नहीं आगे। ज्ञान और वैराग्यका जो संस्कार यहाँ बना लेंगे वह अपना साथ देगा। यहाँके कोई भी बाहरी समागम साथ न देंगे। जब ऐसा तथ्य है तो कुछ अपने आपपर दया करके अपने हितके लिए कुछ सोचना चाहिए कि हम एकदम बाहरके पदार्थोंमें ही ध्यान लगा लगाकर जो अपना जीवन गुजार रहे हैं इससे मेरेको नुकसान ही होगा, फायदा कुछ नहीं, क्योंकि जिन बाहरी पदार्थों को हम अपना रहे वे कोई साथ न निभायेंगे। तो अपने सहज आत्मतत्त्वको पानेके लिए उन ५ पापोंसे विरक्त होना जरूरी है सो इन ५ पापोंसे विरक्त होनेकी बात इस सूत्रमें कही जायगी। भावहिंसा–किसीका बुरा न बिचारें, किसीका बिगाड़ करनेका यत्न न करें, किसी की झूठी बात न बोलें, किसीकी चीज न चुरायें, किसी परस्त्री अथवा परपुरुष पर गंदे विचार न बनायें, बाह्य परिग्रहोंकी तृष्णा मत करें, इस प्रकार इन ५ प्रकारके पापोंसे जो विरक्त होना है उसे व्रत कह लीजिए। चारित्रमोहनीयके उपशम या क्षय या क्षयोपशमके निमित्तसे होने वाले औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक चारित्रके आविर्भावसे जो एक विरतिभाव उत्पन्न होता है, विषयोंसे अत्यन्त पृथक्पना होता है उसको विरति कहते हैं। व्रत नाम है संकल्पपूर्वक नियम करना, जैसे कि यह ऐसा ही है, यह ही है, यो ही करना चाहिए इस प्रकारके तीव्र आशयसे जो अन्य बातोंसे निवृत्त होना है उसका नाम नियम है। तो दृढ़ संकल्पसे किया हुआ शुभ प्रवर्तन सब जगह व्रत नाम पाता है।

(११६) **बुद्धिसे अपाय होनेपर हिंसादिकोंमें ध्रुवत्वकी विवक्षाके कारण प्रथम पद**

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में अपादानकारकत्वकी उपपत्ति—इस सूत्रमें ३ पद हैं जिसमें प्रथम पद अपादानकारकमें हैं याने इन पापोंसे । सो उसके विषयमें यहाँ शङ्का होती है कि अपादान कारक वहाँ लगाया जाता है जहाँ वस्तु ध्रुव हो और उससे कोई चीज अलग होती हो। तो जब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाप ध्रुव तो हैं नहीं, ये तो खोटे परिणाम हैं, अध्रुव हैं, क्षणमें होते हैं, विलीन होते हैं, तो जब क्षणिक हैं वे तो उनसे कुछ अपाय न हुआ इस कारण अपादान कारक यहाँ न लगाना चाहिए । यदि कोई इस शंकाका समाधान यह करे कि हिंसा आदिक पापोंमें परिणत आत्मा ही हिंसा आदिक नाम पाता है क्योंकि हिंसा आदिक आत्मा के परिणाम हैं, सो वे कुछ आत्मासे अलग वस्तु नहीं है, तो यों पर्यायदृष्टि करनेसे हिंसा आदिकमें ध्रुवपनेकी कल्पना कर ली जायगी और इस प्रकार उनसे विरति करना व्रत है यह अर्थ बन जायगा । सो कहते हैं कि इस प्रकार भी अपादान कारक नहीं बनता, फिर कैसे बनता है कि बुद्धिमें उन्होंने हिंसा आदिक पापोंको एक मान लिया कुछ ध्रुवके ढंगका, फिर उससे विरति हुई, यों अपादानकारक हो जायगा । हिंसा आदिक परिणामोंको आत्मा ही मानकर अपादान न बन सकता था क्योंकि आत्मा तो नित्य है, हिंसा आदिक अनित्य हैं मगर बुद्धिमें किसी चीजको ध्रुव रूपसे कल्पना करके अपादान कारक बन जाता है । जैसे यह कहना कि यह धर्मसे विरक्त होता है । कोई पुरुष धर्मको नही मानता तो उसको कहते हैं कि यह तुच्छ बुद्धि वाला मनुष्य धर्मसे विरत रहता है, तो ऐसा वाक्य बोलनेमें धर्म शब्द में पंचमी विभक्ति आ गई है । अपादान बन गया, कैसे कि उसकी बुद्धिमें धर्मके प्रति यह भाव जग रहा कि धर्म तो दुष्कर है, कठिनाईसे किया जाता है और फल भी इसका श्रद्धा-मात्र गम्य है । इस तरहसे एक धर्मभावके प्रति बोलनेके मूडमें ध्रुवत्वकी कल्पना करना, उसमें इदं का प्रयोग करके ध्रुव मानकर अपादान कारक बना लिया जाता है, इसी प्रकार इन हिंसा आदिक परिणामोंके प्रति ऐसी बुद्धि हुई । यह बुद्धिमान मनुष्य यों देखता है कि ये हिंसा आदिक परिणाम पापके कारण हैं और पापकर्ममें प्रवृत्ति करने वाले पुरुषको यहाँ भी राजा लोग दण्ड देते हैं और वह परलोकमें नाना प्रकारके दुःख प्राप्त करता है । सो अपनी बुद्धिसे ऐसा उसे पा करके उसे मानो ध्रुवरूप मानकर उससे बात करके यों ध्रुव समझकर वहाँसे अपादान बन जाता है तो बुद्धिके द्वारा ही इसमें ध्रुवपनेकी विवक्षा होनेसे अपादानपना इस सूत्रके प्रथम पदमें बन गया ।

(११७) **अहिंसा व्रतकी प्रधानता होनेसे अहिंसाव्रतका प्रथम निर्देशन एवं विरतिकी सामान्यैकरूपता**—अब इन ५ नामोंमें सबसे पहले अहिंसा व्रत कहा है । सो सबसे पहले कहनेका प्रयोजन यह है कि अहिंसा व्रत प्रधान है । शेषके जो चार व्रत हैं—सत्य, अचौर्य,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सो ये भी अहिंसाका पालन करने वाले ही हैं। जैसे कि खेतीमें मुख्य बात है अनाज पैदा करनेकी। उसका ही पालन किया जाता है, उसकी ही प्रधानता है, पर बाड़ जो लगायी जाती है वह उस अनाजकी रक्षाके लिए लगायी जाती है, ऐसे ही मोक्षमार्गमें चलनेके लिए, उसके पालनके लिए, उसको निर्दोष निभानेके लिए सत्य आदिक व्रत कहे गए हैं। इस सूत्रमें विरति शब्द दिया गया है, उसका प्रत्येकके साथ योग किया जायगा। जैसे हिंसासे विरति, झूठसे विरति, चोरीसे विरति, अब्रह्मचर्यसे विरति और परिग्रहसे विरति। यहाँ विरति शब्द सबके साथ लगाया गया, ऐसा सुनकर एक शंकाकार कहता है कि जब विरति अनेक हो गईं, ५ पापोंसे विरतियाँ कराई गईं तो विरति शब्दमें बहुवचनका प्रयोग होना चाहिए था, एकवचनका प्रयोग क्यों कहा गया है? जैसे कि गुड़, तेल, चावल आदिक पकाये जाने योग्य हैं, उनके भेदसे विकासके भेद कर दिए जाते हैं। जैसे कहते हैं कि दो पाक हो गये, तीन पाक हो गये, ऐसे ही छोड़ने योग्य जो हिंसा आदिक भेद हैं उनसे जो त्याग कराया गया है सो भेदविवक्षा उत्पन्न हो गई इस कारण विरति शब्दको बहुवचनमें प्रयुक्त करना चाहिए? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसी आशंका न करना, क्योंकि यहाँ पर उन ५ पापोंके विषयसे विरक्त होना, इससे कोई सामान्यको ही ग्रहण करना है। इस विषयके भेदसे विरतिमें भी भेद है ऐसी बिवक्षा नहीं है। यहाँ जैसे कि गुड़, तेल, चावल आदिकका पाक होता है यहाँ सामान्यकी जब बिवक्षा होती है तो पाक शब्दमें भी तो एक वचन कर लिया जाता है, तो ऐसे ही ५ पापोंसे वैराग्य होता है तो उस वैराग्य सामान्यकी विवक्षा है इस कारण विरति शब्दमें एकवचन लगाना न्याययुक्त है। इस ही कारण सर्वसावद्यनिवृत्तिरूप सामायिककी अपेक्षा व्रत एक है और जब भेदकी विवक्षा करें तो वह व्रत ५ प्रकारका है।

(११८) व्रतोंके परिस्पंददर्शनके कारण संवररूपपना न होकर व्रतोंकी संवरपात्रता होनेके कारण संवरपरिकर्मपना—यहाँ शंकाकार कहता है कि इन व्रतोंका अर्थात् ५ पापोंसे निवृत्त होना व्रत है, इस बातका आश्रवके प्रकरणमें बोलना अनर्थक है, क्योंकि इसका तो सम्वरमें अन्तर्भाव हो जायगा, सो जब सम्वर तत्त्वका अध्याय चलेगा तो उसमें यह स्वयं आ ही जाता है और कोई यदि ऐसा समाधान करनेकी कोशिश करे कि यह तो केवल कहने मात्रकी बात है कि व्रतोंका अन्तर्भाव हो जाता है, तो सुनो—सम्वरके अध्यायमें दस धर्मोंका वर्णन आता है उन क्षमा आदिक दस धर्मोंमें एक संयमधर्म भी है। उस उत्तम संयममें अहिंसा आदिक पाँचों व्रतोंका अन्तर्भाव हो जाता है या सत्य आदिक धर्म हैं उनमें अंतर्भाव हो जाता है। फिर यहाँ आश्रवके प्रकरणमें कहना अनर्थक है। यदि कोई ऐसा समाधान दे कि भले ही संयममें अन्तर्भाव हो जाता है पर यह संयमका विस्तार बता दिया, संयम किस-

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकारसे होता है उसके विस्तारमें यहाँ कथन कर दिया तो यह भी उत्तर उनका ठीक नहीं है, क्योंकि संयममें जिसका अंतर्भाव है उसका यदि विस्तार करना है तो विस्तार वहाँ ही किया जा सकता है जिसमें कि इसका अंतर्भाव है, पर सम्वरका प्ररूपण करने वाले अध्यायमें ये व्रत बताये जाते, यों संयममें अन्तर्भाव माना जा रहा है, सो यहाँ व्रतोंका कहना अनर्थक रहा ना। अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि ये जो ५ व्रत हैं ये संवर नाम नहीं पा सकते, क्योंकि इन व्रतोंमें परिस्पंद देखा जाता है, कोई प्रवृत्ति देखी जाती है। अशुभसे हटकर शुभमें प्रवृत्ति हो रही यह बात व्रतोंमें पायी जाती और सम्वरमें परिस्पंदका भाव रहता है। कोई मनुष्य आरम्भका त्याग करता है तो इसके मायने है सत्य बोलता है, चोरीका त्याग किया, बिना दी हुई चीजका ग्रहण करना छोड़ दिया, मतलब दिया हुआ ही ग्रहण करता है। तो इस तरह इन ५ व्रतोंमें परिस्पंद पाया जा रहा है इस कारणसे इसका सम्वरमें अंतर्भाव नहीं होता। यह आश्रवरूप है, और है शुभ आश्रव, मगर सम्वररूप नहीं बन पाते हैं। दूसरी बात यह है कि गुप्ति आदिक संवरोंका वर्णन आगे किया जायगा, उससे इन व्रतोंको भी संवरार्थ समझ लीजिए। याने व्रत विधान करके ऐसी पात्रता उत्पन्न की गई कि अब वे गुप्ति आदिक संवरको कर सकेंगे इस कारणसे इन व्रतोंका पृथक् वर्णन करना सही है।

(११६) रात्रिभोजनविरतिका अहिंसाव्रतमें अन्तर्भाव—एक शंकाकार कहता है कि रात्रिभोजनसे विरति होना यह भी तो एक व्रत है और छठवाँ अणुव्रत है, इस नामसे कहीं कथन भी किया जाता है सो उस रात्रिभोजनविरतिका भी इस सूत्रमें नाम दिया जाना चाहिए था। जैसे हिंसासे विरति, झूठसे विरति आदिक कहा गया ऐसे ही रात्रिभोजनसे विरति यह भी कहना चाहिए। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि रात्रिभोजनविरतिका अहिंसा व्रतकी भावनामें अन्तर्भाव हो जाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि भावनाओंमें तो रात्रिभोजनविरतिका नाम नहीं दिया गया। भावना भी प्रत्येक व्रतकी ५-५ कही गईं, किन्तु वहाँ किसी भी व्रतकी भावनामें रात्रिभोजनविरति नहीं दिया गया। तो शङ्का यों न करना चाहिए कि अहिंसा व्रतकी भावनाओंमें आलोकितपानभोजन ये शब्द दिये गए हैं, सो आलोकितपानभोजनका क्या अर्थ है? देख करके भोजन करना। सो इस शब्दसे ही रात्रिभोजनविरतिकी बात आ जाती है, क्योंकि रात्रिमें अंधकार रहता है, वहाँ भोजन आदिक साफ दिखाई नहीं दे सकते इसलिए उसका त्याग स्वयं ही बन गया। इसपर एक प्रश्नकर्ता कहता है कि अगर दीपक आदिक जला दिए जायें, प्रकाश किया जाय तो रात्रिमें भी देख करके भोजनपान हो जायगा, जैसे कि देखकर भोजन करनेकी दृष्टिसे दिनमें भोजन करना बताया जा रहा है तो दीपक हंडा आदिकका जहाँ अच्छा प्रकाश हो वहाँ भी तो भोजनपान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सब दिखता है। तब रात्रिमें भोजन कर लिया जाना चाहिए ? तो यह प्रश्न भी ठीक नहीं है, क्योंकि दीपक आदिक करनेपर अनेक आरम्भके दोष आते हैं। अग्नि आदिकका साधन जुटाना आदिक दोष होते हैं, तो इसपर फिर वही प्रश्नकर्ता कहता है कि यदि दूसरा कोई पुरुष दीपक जला दे और इस तरह उसका आरम्भ किए बिना दीपकका उजेला मिल जाय तब तो रात्रिभोजन कर लिया जाना चाहिए वहाँ तो दोष न होता होगा ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यह भी शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भली प्रकार आना जाना आदिक असम्भव हैं। हाँ सूर्यके प्रकाशसे, अपने ज्ञानके प्रकाशसे, इन्द्रियके प्रकाशसे जो मार्ग अच्छी तरहसे परीक्षित है, दूर तक देखा जा सकता है, ऐसे देश और कालमें चर्या करके साधुलोग आहार लेवें ऐसे आगममें उपदेश किया गया है, यह विधि रात्रिमें तो नहीं बनती है, रात्रिमें तो मलिनता बनती है, रात्रिमें आने जानेका कार्य भी नहीं बन सकता है अतएव रात्रिमें भोजनपान करना आलोकितभोजनपानमें नहीं आता।

(१२०) **दिनमें लाकर रात्रिमें भोजन करनेपर भी अनेक पापारम्भोंकी विडम्बना—** अब यहाँ वही प्रश्नकर्ता कहता है कि दिनसें तो भोजन ला दिया जाय और रात्रिमें भोजन कर लिया जाय, इसमें तो आरम्भ नहीं हुआ। तो इसके उत्तरमें भी यही समझना कि प्रदीप आदिकका समारम्भ तो हो ही गया और यह संयमका साधन नहीं है कि ला करके भोजन करना। संयमी जीव जो कि परिग्रहरहित है, हस्तपात्रमें ही जो आहार लेता है उसको कहीं से भोजन लाना कैसे सम्भव हो सकता ? यदि कुछ पात्र रख लिए जायें तो उसमें अनेक पाप लगते हैं। एक तो दीनताका भाव होता सो दीन चर्या बन जानेसे फिर तो निवृत्ति परिणाम सम्भव ही नहीं हो सकता। जिसके अतिदीनवृत्ति आ गई उसके पूर्ण निवृत्तिके परिणाम नहीं हो सकते, क्योंकि सर्व पापोंका जहाँ त्याग किया गया वहाँ उस पात्रको जब ग्रहण कर लिया, बर्तन रख लिया तो पात्रका परिग्रह तो रहा ही रहा, पात्रसे लाकर परीक्षा करके भोजन भी करे कोई तो उस साधुको लाना, धरना, अलग करना आदिकसे होने वाले गुण दोष भी तो सोचने पड़ते हैं और जो आहार लाया गया उसके लानेमें भी और छोड़नेमें भी अनेक दोष होते हैं। तो जैसे सूर्यके प्रकाशमें सर्व पदार्थ स्पष्ट दिखते हैं दाता, भूमि, जल, भोजन पान, गिरना रखना आदिक, उस तरहसे रात्रिको चंद्रके प्रकाशमें नहीं दिखते, इस कारण दिनमें ही भोजन करना निर्दोष आचरण है। यह रात्रिभोजनका त्याग अहिंसा व्रतकी आलोकित-पानभोजन नामकी भावनामें अन्तर्भूत हो जाता है।

(१२१) **प्रसंगविवरण**—उक्त प्रकार व्रत ५ रहे। ५ पापोंके त्यागमें ५ व्रत हुए। ये पांचों व्रत शुभभाव हैं और शुभभाव होनेसे शुभास्रवके कारण हैं। ७वें अध्यायमें शुभ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आश्रवकी बात कही जा रही है। जैसे पहले अध्यायमें ज्ञानके उपाय बताये गए तो दूसरे तीसरे चौथे अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन हुआ। तो छठवें और ७ वें अध्यायमें आश्रव तत्त्व का वर्णन है। छठवें अध्यायमें तो आश्रवका सामान्य कथन है। उसमें जुदे जुदे शुभ अशुभ की बात की गई है, उसका मात्र संकेत ही दिया गया है। ७वें अध्यायमें शुभ आश्रवकी बात कही जा रही है। इस प्रकार ५ पापोंसे विरक्त होना व्रत है यह इस सूत्रका तात्पर्य हुआ। सप्तम अध्यायके इस प्रथम सूत्रमें सामान्यतया ५ प्रकारके विषयोंसे विरक्ति होनेरूप व्रतका कथन है। सो वे समस्त व्रत विरतिके आश्रयकी विवक्षामें दो ही प्रकार बन सकते हैं कि या तो वहां पूरी विरक्ति है या थोड़ी विरक्ति है। सो उन ही दो प्रकारोंको अब सूत्रमें बताते हैं।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥७—२॥

(१२२) व्रतके एकदेशविरति व सर्वदेशविरतिके भेदसे दो प्रकार—विरति दो प्रकारकी है—(१) एकदेश विरति (२) सर्वदेश विरति। एकदेशसे विरक्त होनेका नाम अणुव्रत है, सर्व देशसे विरत होनेका नाम महाव्रत है। देश शब्द दिश् धातुसे बना है, जिसकी निरुक्ति है—कुतश्चित् अवयवात् दिश्यते इति देशः कुछ अवयवोंसे जो कहा जाय उसे देश कहते हैं अर्थात् एक देश। और सर्वकी निरुक्ति है—सरति अशेषान् अवयवान् इति सर्वः। जो समस्त अवयवोंको प्राप्त हो उसको सर्व कहते हैं। सर्व, मायने परिपूर्ण। सो यहां देश और सर्व इन दो शब्दोंमें द्वन्द्व समास किया गया है और फिर पंचमी अर्थमें तसल् प्रत्यय किया गया है, जिसमें अर्थ हुआ कि एक देश और सर्वदेशोंसे। पूर्व सूत्रसे विरति शब्द की यहां अनुवृत्ति की गई है तब अर्थ हुआ कि एक देशसे विरक्त होना और सर्वदेशसे विरक्त होना अणुव्रत और महाव्रत है। अणु और महान् ये दो शब्द विशेषण हैं। पूर्व सूत्रसे व्रत शब्दकी अनुवृत्ति लाकर यहां अणुव्रत और महाव्रत अर्थ होता है, इस ही से इस द्वितीय पद को द्वन्द्व समास करके नपुंसक लिंगमें द्विवचनमें रखा गया है। यहां कोई जिज्ञासा करता है कि व्रत होता है एक अभिप्राय और संकल्पकी दृढ़तापूर्वक। जैसे मैं हिंसा न करूंगा अथवा नहीं करता हूं, मैं झूठ नहीं बोलता हूं या न बोलूं या बिना दी हुई चीज न लूं मैं किसी अंगनाका स्पर्श न करूं, मैं परिग्रहको न ग्रहण करूंगा, ऐसी दृढ़ताके साथ अभिसंधि करना, प्रयोग करना भाव बनाना व्रत कहलाता है। सो यहां यदि कोई इन भावोंके करनेमें असमर्थ हो या ढीला हो जाय तो वह इस व्रतको कैसे निभा सकेगा, उसका कोई उपाय होना चाहिए? तो इस जिज्ञासुकी मार्गसाधनाके लिए कहते हैं कि उन सर्व व्रतोंकी ५-५ भावनायें होती हैं। उन भावनाओंके आनेसे व्रतोंमें दृढ़ता आती है। यही बात अब सूत्रमें कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥७-३॥

(१२३) **व्रतोंकी स्थिरताके लिये पांच पांच भावनावोंकी वक्ष्यमाणताका निर्देश**—उन व्रतोंकी स्थिरताके लिए ५-५ भावनायें होती हैं। यहां भावना शब्द कर्मसाधनमें आया है, जिससे अर्थ हुआ कि वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे और चारित्रमोहके उपशमसे अथवा क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामकर्मके लाभसे आत्माके द्वारा जो भायी जायें सो भावनायें हैं। यहाँ इस बातका संकेत किया है कि चारित्रमोहके उपशम क्षयोपशमसे ये भावनायें बनती हैं। भावनाओंके बननेमें मन आदिक अंगोपांगका साधन चाहिए और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी आवश्यकता शक्तिके लिए है। शक्ति हो, कषाय मंद हो, मन आदिक उचित हो तो ५ भावनायें बनतीं हैं, यहाँ एक शंका होती है कि सूत्रमें पंच पंच शब्द देकर बताया है कि ५—५ भावनायें हैं, तो पंच-पंच दो बार न कहकर केवल एक बार पंच कह कर उसमें शस्लृ प्रत्यय लगा देना चाहिए जिससे पंचशः यह अव्यय पद बन जाता है। ऐसा करनेसे एक शब्द कम हो जाता है। सूत्र लघु बन जाता है फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहां कारकका अधिकार है कि ५-५ भावनायें हैं। पहले से ही यह अर्थ चला आ रहा, क्या क्या है, इस कारण यहाँ शस्लृ प्रत्यय वाली बात नहीं बनती। तो प्रश्नकर्ता कहता है कि हम यहाँ भावयेत् क्रियाका अध्याहार कर लेंगे अर्थात् ऊपरसे लगा लेंगे तब बराबर वाक्य बन जायगा। उस समय सूत्रका अर्थ इस प्रकार होगा कि व्रतोंकी स्थिरताके लिए ५-५ भावनायें भानी चाहिएँ। शस्लृ प्रत्यय भी डबल अर्थ में होता है। उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा किया जाना योग्य नहीं है, क्योंकि यहाँ विकल्पका अधिकार है, भेद बताया जानेका अधिकार है। दूसरा शस्लृ प्रत्यय विकल्पसे हुआ करता है किया भी जाय न भी किया जाय और फिर यहां क्रियाका अध्याहार करना एक बुद्धिसे ही सोचा जाता है। प्रकरणमें कहीं शब्द अनुवृत्तिके लायक नहीं है कि भावना करना चाहिए और फिर क्रियाका अध्याहार करे उसका अर्थ लगाये इससे जानकारी कठिन हो जाती है। स्पष्ट अर्थ नहीं झलकता, इस कारण स्पष्ट अर्थ समझनेके लिए पंच पंच ऐसा स्पष्ट निर्देश करना उचित है। ५ व्रतोंमेंसे प्रथम व्रत जो अहिंसा व्रत है उसकी ५ भावनायें कहते हैं।

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥७-४॥

(१२४) **वचनगुप्ति व मनोगुप्ति विषयक भावनावोंकी अहिंसाव्रतसाधकता**—अहिंसा व्रतकी ५ भावनायें ये हैं—(१) वचनगुप्ति, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्यासमिति (४) आदान-निक्षेपण समिति और (४) आलोकितपानभोजन। वचनको वश करना वचनगुप्ति है। जो पुरुष मौनसे रहे, जिसके नियंत्रणमें वचन हैं, सो वचनोंके प्रयोगसे जो अपने चित्तका सम्भ्रम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता है और दूसरेको क्लेशोत्पत्तिकी सम्भावना हो सकती है वह सब न [illegible] प्रयोग करना । यह वचनगुप्तिकी भावना अहिंसा व्रतका साधक है । वचन बोलकर या तो राग बढ़ता है या द्वेष बढ़ता है तो राग और द्वेष दोनों ही हिंसारूप हैं और द्वेष बढ़ जाय तो उसके इस जीवनमें भी विडम्बनाका रूप हो जाता है इस कारण वचनगुप्तिकी भावना करने वाला और यथाबल वचनगुप्तिका प्रयोग करने वाला अहिंसा व्रतका साधक होता है । मनोगुप्तिका अर्थ है मनको वशमें करना । पाप, हिंसा, अपनेको सताना, दूसरे जीवोंके दुःखका निमित्त होना ये सब मनसे हुआ करते हैं । जिसने मनको वश किया, ज्ञानकी लहरसे मनको पवित्र बनाया उसके अहिंसा व्रतकी साधना सम्भव है इस कारण यथाबल मनोगुप्ति करना । मनोगुप्तिकी भावना रखना अहिंसा व्रतका साधक है ।

(१२५) **ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति व आलोकितपानभोजन-विषयक भावनावोंकी अहिंसाव्रत साधकता**—ईर्यासमिति—अच्छे परिणामसे अच्छे कार्यके लिए दिन में खूब देख भालकर चलना ईर्यासमिति कहलाती है । ईर्यासमितिसे प्रवृत्ति वाले पुरुषके हिंसा टलती है, भावहिंसा भी दूर है, द्रव्यहिंसा भी दूर होती है अतः ईर्यासमितिकी भावना अहिंसा व्रतका साधक है । आदाननिक्षेपणसमिति—कोई चीज धरना अथवा उठाना तो देख भालकर उस वस्तुको शोधन करना, धरना उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है । इस प्रकारकी जो क्रिया में चलता है और ऐसी शुभ प्रवृत्तिकी भावना रखता है उसके अहिंसाव्रतकी साधना होती है और इस कारण आदाननिक्षेपणसमिति अहिंसा व्रतकी साधक है । आलोकितपानभोजन—देखा हुआ भोजन पान करना आलोकितपानभोजन है अर्थात् दिनमें भले प्रकार देख शोधकर भोजन पान करना इस प्रकार जो रात्रिभोजन त्याग रखता है और इस प्रकारकी भावना रखता है, उसका यह आलोकितपानभोजन अहिंसाव्रतका साधन है । अहिंसाव्रतकी शुद्धि निर्दोष चाहने वाले पुरुषोंको ये ५ भावनायें भाना चाहिये । अब सत्य व्रतकी भावनाओंका सूत्र कहते हैं ।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥७-५॥

(१२६) **सत्यव्रतकी पांच भावनावोंका निर्देशन**—सत्य व्रतकी ५ भावनायें इस प्रकार है—(१) क्रोधप्रत्याख्यान, (२) लोभप्रत्याख्यान, (३) भीरुत्वप्रत्याख्यान, (४) हास्यप्रत्याख्यान और (५) अनुवीचिभाषण । क्रोधभावका त्याग करना क्रोधप्रत्याख्यान है । जो पुरुष क्रोधसे आवृत रखता है, क्रोध किया करता है क्योंकि क्रोध एक ऐसा नशा है कि जिसमें वह सत्पथ भी भूल जाता है और उस क्रोधमें जैसा वह बिगाड़ चाहता है किसीका उस बिगाड़के उपायोंका मनन भी साथ चलता है इस कारण क्रोध करना सत्य व्रतको भंग कर देता है । सो सत्य व्रतकी रक्षा करने वालोंको क्रोधका त्याग करना चाहिए । लोभ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रत्याख्यान—लोभ कषायका त्याग करना लोभप्रत्याख्यान है। किसी भी बाह्य पदार्थोंके लोभमें अथवा अपने आपके पर्यायकी प्रसिद्धि आदिकके लोभमें ऐसा यह भाव उत्सुक होता है और उस लोभसंगतिमें बढ़ता है कि वह असत्य वचनोंका प्रयोग करके भी लुभाये गए पदार्थोंका संग्रह करना चाहता है। तो जो पुरुष लोभ रखता है उसका झूठ बोलना बहुत कुछ सम्भव है इस कारण सत्य व्रतकी रक्षा करनेके लिए लोभ परित्यागकी भावना करना चाहिए। भीरुत्वप्रत्याख्यान याने डरपोकपनेका त्याग कर देना, जो मनुष्य कायर होता है, जरा-जरासी घटनाओंमें भयभीत होकर कायर बनता है तो वह अपनी कल्पित रक्षाके लिए किसी भी असत्य साधनका प्रयोग कर सकता है, असत्य बोल सकता है। तो सत्य व्रतकी रक्षा करनेके लिए ऐसा ज्ञानबल बढ़ना चाहिए कि जिससे कायरता न रह सके। हास्यप्रत्याख्यान—हँसीका त्याग करना हास्यप्रत्याख्यान है। जो पुरुष दूसरोंका उपहास करता है तो उस मजाक करनेकी प्रवृत्तिमें अनेक बार असत्य बोलनेके प्रसंग हो जाते हैं, अतः सत्य व्रतकी रक्षा करने वालेको हास्यका परित्याग करना चाहिए। अनुवीचिभाषण—आगमके अनुकूल वचन बोलना अनुवीचिभाषण है। यहाँ शंकाकार कह सकता है कि फिर तो अशुभ क्रियावों वाले वचनोंसे भी बोलना अनुवीचिभाषणमें आ जायगा, उत्तर देते हैं कि नहीं। आगमके अनुसार बोलनेका यहाँ भाव है कि व्रत आदिक शुभ प्रवृत्तियोंके बारेमें आगमके अनुसार बोलना, क्योंकि यह प्रकरण पुण्याश्रवका है। अप्रशस्त क्रियावोंके बारेमें अनुवीचिभाषण का अधिकार नहीं है अथवा अनुवीचिभाषणका अर्थ कीजिए—विचार करके भाषण देना, बिना विचारे जो शीघ्र भाषण कर देते हैं उनके असत्य बोलनेके प्रकरण बन जाया करते हैं अतः सत्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए अनुवीचिभाषण करना चाहिए। ये सत्यव्रतकी ५ भावनायें हैं। अब तृतीय व्रतकी भावनायें बताते हैं।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥७-६॥

(१२७) **अचौर्यव्रतकी पांच भावनाओंका निर्देशन**—अचौर्य व्रतकी ५ भावनायें इस प्रकार हैं—(१) शून्यागारावास, (२) विमोचितावास, (३) परोपरोधाकरण, (४) भैक्ष्यशुद्धि और (५) सधर्माविसम्वाद। (१) सूने घरमें रहना यह अचौर्यव्रतकी प्रथम भावना है। पर्वत की गुफायें, वृक्षोंकी खोह आदिक स्थानोंमें रहनेसे वहाँ चोरीके आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका प्रसंग न होनेसे अचौर्य व्रतकी स्थिति दृढ़ रहा करती है। इस कारण अचौर्य व्रतकी रक्षाके लिए सूने आगारोंमें रहनेकी भावना व यथाबल प्रयोग करना चाहिए। (२) छोड़े हुए दूसरे के आवासोंमें जिनमें दूसरे कोई गृहस्थ रहते थे और रोग महामारी या अन्य उपद्रवोंके कारण उस स्थानको बिल्कुल छोड़कर चले गए, एकदम वह सूना स्थान है तो ऐसे स्थानोंमें रहना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह अचौर्यव्रतकी दूसरी भावना है। ऐसे स्थानमें रहनेपर चोरीके आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका सम्बंध न होनेसे अचौर्य व्रत भली भाँति पलता है, इस कारण अचौर्य व्रतकी रक्षाके लिए यह दूसरी भावना कही गई है। (३) परोपरोधाकरण—दूसरेको निवास करनेसे रोकना नहीं, यह तृतीय भावना है। प्रथम बात तो यह है कि दूसरोंको ठहरानेसे वही पुरुष रोक सकता है जिसके पास कुछ परिग्रह हो, द्वितीय बात यह है कि कुछ अपनी क्रियामें त्रुटि हो, सो वह अपनी त्रुटि छिपानेके लिए अथवा कोई कुछ चुरा न ले जाय इस भावनासे दूसरेको मना करेगा। तो उसको ऐसी अपनी निःशल्य स्थिति रखना चाहिए कि दूसरेको मना करनेका प्रसंग ही न करना पड़े। तब प्रवृत्ति यह रखना चाहिए कि जहाँ खुद ठहरे हैं वहाँ कोई भी साधर्मी आकर ठहरे, किसीको मना न करना, यह भावना अचौर्य व्रतकी साधक है। (४) आचार शास्त्रके मार्गके अनुसार भिक्षावृत्तिकी शुद्धि रखना भैक्ष्यशुद्धि है। मार्गानुसार आहार करने वाले पुरुषके आहारविषयक चोरीकी सम्भावना नहीं है अथवा अपने किसी बुरे परिणामको करने और छुपानेकी आवश्यकता नहीं होती, इससे भैक्ष्यशुद्धि अचौर्यवृत्तिकी साधक है। (५) यह मेरा है, यह तुम्हारा है, ऐसा साधर्मी जनोंके साथ विसम्वाद न करना अचौर्य व्रतकी साधक है। मेरा तेराका भाव रखनेमें प्रथम तो उसमें ममताका भाव आया, संग्रहका भाव आया सो विशुद्धिकी हानि हो गई और फिर मेरा तेरा कहनेके प्रसंगमें कभी कोई विवाद हो जाय कि दूसरे भी यह कहने लगें कि यह मेरा ही है, तुम्हारा नहीं है और वे कहे कि मेरा ही है, तो ऐसे प्रसंगमें उस चीजके चुरानेके उससे आँख बचाकर लेनेकी भावना बन जाया करती है, इस कारण अचौर्य व्रतकी सिद्धिके लिए सधर्माविसम्वाद नामक भावना भी भाना व उसका प्रयोग करना चाहिये। ये अचौर्यव्रतकी ५ भावनायें हैं। अब ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाओंको कहते हैं—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७-७॥

(१२८) **ब्रह्मचर्यव्रतकी स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग व स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग एवं पूर्वरतानुस्मरणत्याग नामकी प्रथम, द्वितीय व तृतीय भावना**—इस सूत्रमें ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावनायें कही गई हैं— [१] स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—स्त्रियोंमें राग उत्पन्न होना इस प्रकारके कथनके सुननेका त्याग करना, क्योंकि यदि स्त्रीरागविषयक कथन सुनते रहेंगे तो उसका मन मलिन होगा और कामविषयक कल्पनायें जगने लगेंगी और उस ही का मन कर कर यह जीव मनसे वचनसे कायसे ब्रह्मचर्यसे च्युत हो सकता है। इस कारण ऐसी कथावोंके सुननेका त्याग करना आवश्यक ही है। सो उसका त्याग करना और त्यागकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भावनायें निभाये रहना यह ब्रह्मचर्य व्रतकी प्रथम भावना है। द्वितीय भावना है स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग। स्त्रियोंके सुन्दर अंगोंके निरखनेका त्याग करना। कामसंस्कार वाले पुरुषोंको जो स्त्रियोंके अंग निरन्तर लगा करते हैं, हाथ, मुख, जंघा आदिक ऐसे किसी भी अंगोंका निरीक्षणका भाव करता रहेगा और कुछ उस ओर प्रयत्न रहेगा तो इसका मन कलुषित होगा और उस भावनामें रह रहकर यह शील व्रतसे च्युत हो जायगा। इस कारण मनोहर अङ्गोंके निरीक्षणका त्याग अनिवार्य है, अंतः उस त्यागकी भावना बनाये रहना, उसके विरुद्ध कल्पना न जगना सो यह ब्रह्मचर्यव्रतकी दूसरी भावना है। ब्रह्मचर्यव्रतकी तृतीय भावना है पूर्वरतानुस्मरण त्याग। पहले जो भोग भोगे उनके स्मरणका त्याग करना। यदि कोई पुरुष पहले भोगे हुए भोगोंकी याद करता है तो उस यादमें उसे भोगविषयक वासना जग सकती है और उसका ही ख्याल कर, कल्पना कर यह उस ओर आसक्त होकर पुनः जो वर्तमान कोई संयोग प्राप्त हो उसके यत्नमें, उसके भावमें यह ब्रह्मचर्यसे च्युत हो सकता है। इस कारण पहले भोगे हुए भोगोंके स्मरणका त्याग होना अनिवार्य है। वास्तविकता तो यह है कि जिनको आत्मज्ञान जगा है, जो संयममार्गमें आगे बढ़े हैं उनके अंतस्तत्त्व की धुन रहनेके कारण उस श्रमणनिरीक्षणके स्मरणकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती। आत्मानुभवके प्रकरणसे उन्हें फुरसत ही नहीं है खोटे भावोंमें आनेकी। और फिर भी कदाचित् चारित्रमोहके विपाकवश कुछ थोड़ी कल्पनासी जगे तो ज्ञानबलसे उस कल्पनाको वहीं तोड़ कर यह ज्ञानी अपने शीलको सुरक्षित रखता है।

(१२९) **ब्रह्मचर्यव्रतकी वृष्येष्टरसत्याग व स्वशरीरसंस्कार त्याग नामकी चतुर्थ व पंचम भावना**— ब्रह्मचर्यव्रतकी चतुर्थ भावना है वृष्येष्टरस त्याग याने वृष्य इष्ट रसका त्याग करना। जो रस भोजन कामोत्तेजन हो, रसना इन्द्रियको प्रिय हो, ऐसे रसका परित्याग करना। यदि कामोत्तेजक औषधियाँ भस्म रस आदिकका सेवन रहा तो उससे शरीरमें उत्तेजना होगी और तदनुरूप वासना उभरने लगेगी, जिसके कारण यह शीलसे च्युत हो सकता है। और जो शीलसे च्युत हुआ उसका मन मलीमस हो जानेसे फिर वह मोक्षमार्गका पात्र नहीं रहता। तो इस कारण कामोत्तेजक इष्टरसका त्याग करना अनिवार्य है और उसकी भावना बनाये रखना कर्तव्य है। ब्रह्मचर्यव्रतकी ५ वीं भावना है स्वशरीरसंस्कार त्याग। अपने शरीरके संस्कारका त्याग करना। जो पुरुष शरीरके संस्कारपर दृष्टि करता है, संस्कार करता है उस पुरुषके पर्यायबुद्धि है। शरीरको अपना माना, आपा समझा तब ही तो शरीर के संस्कार पर इसका उपयोग गया है। सो जिसको शरीरमें आत्मबुद्धि है, शरीरके संस्कार में लगा है तो उसके कामवासना भी उभरने लगती है और वहाँ यह संस्कार करने वाला

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो भावोंमें मलीमस होता ही, पर अन्य पुरुष स्त्रीजन जो इस ही वासनाके विचारके हों वे इसके शरीरको संस्कृत सुथरा देखकर आकर्षित होने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि संस्कार करने वाला यह पुरुष शील व्रतसे पतित हो जाता है। इस कारण हिताभिलाषी पुरुषों को अपने शरीरके संस्कारका त्याग करना योग्य है, अतः इसकी भावना बनाये रखते जिससे कि कभी दुराचारभावका अवसर न आये। यह मोक्षार्थीका कर्तव्य है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रतकी ५ भावनायें कहीं।

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥७-८॥

(१३०) परिग्रहविरतिनामक व्रतकी पांच भावनायें—इस सूत्रमें परिग्रह त्याग व्रत की भावनायें कही गई हैं। ५ इन्द्रियके विषय तो परिग्रह हैं। यदि कोई धन वैभवका संग्रह करता है तो वह इन विषयोंके साधनोंके प्रयोजनसे ही तो करता है। साथ ही मन भी अपने विषयोंमें लगा रहता है, तो चूंकि विषयोंकी साधना ही खुद परिग्रह है और विषयसाधनाके लिए ही चेतन अचेतन परिग्रह जोड़े जाते हैं, सो परिग्रहत्यागव्रतको ठीक रखनेके लिए इन्द्रियविषयोंका त्याग करना, उनमें रागद्वेष न करना यह आवश्यक हो जाता है। सो जो इन्द्रियविषय मनोज्ञ हों, इष्ट हों उनमें रागका त्याग करना और जो इंद्रियविषय अमनोज्ञ हों, इष्ट हों, अनिष्ट हों उनमें द्वेषका त्याग करना ये परिग्रहत्यागकी ५ भावनायें हैं। कदाचित् ऐसा इष्ट अनिष्ट विषय न चाहते हुए भी सामने उपस्थित हो जाय और वहां इन विषयोंकी ओर यह चित्त देने लगे तो वह इन विषयोंको सुखकारी समझकर उनकी ओर आकर्षित होगा और आकिंचन्यव्रतका भंग हो जायगा। परिग्रहत्याग आकिंचन्यव्रत ही तो है, सो आकिंचन्यव्रतको स्थिर रखनेके लिए विषयोंमें रागद्वेष न करनेकी भावना बनाये रहना मोक्षार्थीका कर्तव्य है। यहां इन ५ व्रतोंकी दृढ़ताके लिए भावनायें बतायी गई हैं। तो अब इन भावनाओंकी पुष्टिके लिए विरुद्ध बातोंका क्या फल होता है, यह बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥७-९॥

(१३१) हिंसा झूठ चोरी पापसे उभयलोकमें होने वाले अपायका चिन्तन—हिंसा आदिक पापोंमें इस लोकमें अन्याय देखा जाता है। अनेक प्रकारकी आपत्तियां विघात देखी जाती हैं, और परलोकमें इन पापोंका कटुक फल मिला करता है। इस प्रकार हिंसा आदिक पापोंकी दुष्टताका दर्शन करना यह पंचव्रतोंकी भावनाको दृढ़ करने वाली भावना है। अपाय का अर्थ है स्वर्ग और मोक्ष पदार्थका उनकी क्रियावोंके साधनोंका नाश करना अपाय है। अथवा इस लोक सम्बन्धी ७ प्रकारका भय हो जाना अपाय है। अवद्य निन्द्यतत्त्वको कहते हैं। हिंसा आदिक पापोंके करनेसे जो वह हिंसक है वह सदैव उद्वेगमें रहा करता है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हिंसकका वह सदैव बैरी रहा करता है। सो यह हिंसक यहाँ ही बंधनक्लेशादिकको प्राप्त करता है और पापकर्म बंधके कारण उनके उदयमें वह अशुभगतिको प्राप्त करता है हिंसक लोकमें निंद्यनीय भी होता है। इस कारण हिंसासे विरक्त रहना ही श्रेष्ठ है। झूठ बोलने वाला पुरुष लोगोंकी श्रद्धासे गिर जाता है. फिर लोग उससे कुछ भी सम्बंध करना नहीं चाहते। झूठ बोलने वाला पुरुष इस लोकमें भी अनेक प्रकारके दंड पाता है। प्रजा द्वारा, सरकार द्वारा उसकी जिह्वा छेद दी जाय, आदिक अनेक प्रकारके दण्ड दिए जाते हैं। जिनके सम्बंधमें वह पुरुष झूठ बोलता है वे वे सब इसके बैरी हो जाते हैं। तो जो बैरी हो गए वे इस पर अनेक आपत्तियाँ ढाते हैं। सो असत्यवादी इस लोकमें भी बहुत दुःख प्राप्त करता है और मरकर अशुभ गतिमें जाता है। इस कारण असत्य बोलनेसे विरक्त रहना ही चाहिए। चोरी करने वाले पुरुषका सब लोग तिरस्कार करते हैं, उसे निकट भी नहीं बैठने देते। चोर पुरुष इस ही लोकमें अनेक प्रकारके दंडोंको भोगते हैं। जैसे जनताके लोग या सरकारी कर्मचारी उसे मारते पीटते हैं, उसे बांधते हैं, गिरफ्तार करते हैं, रस्सियोंसे बांधकर डाल देते हैं; हाथ, पैर, कान, नाक आदिक छेद डालते हैं और उनके पास जो कुछ भी सम्पदा हो वह सब छुड़ा ली जाती है। चोर पुरुष इस लोकमें दण्डोंको भोगता है और मरकर अशुभगतिमें जाता है। लोकमें वह बहुत निन्द्य होता है, इस कारण चोरी पापसे विरक्त होना ही कल्याणकारी है।

(१३२) **कुशील और परिग्रह पापसे उभयलोकमें होने वाले अपायका चिन्तन**—जो पुरुष कुशीलका सेवन करते हैं वे हमेशा कामके साधनोंके वश रहा करते हैं और मदोन्मत्त हाथीकी तरह कामसाधनोंके पीछे घूमते फिरते हैं। कुशील पुरुषोंको लोग पीटते हैं, बध करते हैं, बांधते हैं, अनेक प्रकारके कष्ट दिया करते हैं। जैसे कामासक्त पुरुष मोहसे दब जानेके कारण कर्तव्य और अकर्तव्यके विवेकसे रहित हो जाते हैं और ये किसी भी शुभ कर्मक्रियाके करने लायक नहीं रहते। परस्त्रीगामी पुरुषोंपर यहींके लोग बड़ी आपत्तियाँ डालते हैं और उनके कामसाधनभूत अंगोंको छेद डालते हैं और उनका सर्वस्व वैभव हरण कर लिया जाता है। सो कुशील पुरुष इस लोकमें भी बहुत आपत्ति पाते हैं और मरकर अशुभ गतिमें जाते हैं, लोगोंके द्वारा वे निन्द्य रहते हैं। इस कारण कुशील नामक पापसे विरक्त होना ही कल्याणकारी है। जो पुरुष परिग्रहकी तृष्णामें बढ़े चले जा रहे हैं वे पुरुष अन्य पुरुषोंके द्वारा अनेक प्रकारसे झपटे जाते हैं। जैसे कि किसी पक्षीकी चोंचमें पंजोंमें मांसपिण्ड पड़ा हो तो अन्य पक्षी उस पक्षीपर झपटा करते हैं, ऐसे ही परिग्रहवान पुरुषपर अन्य लोग चोर, डाकू, राजा आदि सब झपटा करते हैं। परिग्रही पुरुष बड़े विकल्पमें रहकर अपने मनको व्यथित करता रहता है, वह चोरों के द्वारा तिरस्कृत होता है। अनेक डाकू उसका धन भी हर लेते हैं और उसके प्राणोंका भी

http://sahjanandvarnishastra.org/

घात कर डालते हैं। परिग्रहके उपार्जनमें अनेक संक्लेश और आपत्तियाँ हैं और परिग्रह जुड़ भी जाय तो उसकी रक्षा करनेमें अनेक आपत्तियाँ हैं, संक्लेश हैं और कदाचित् रक्षा करते हुए भी उसका विनाश हो जाय तो उसमें संक्लेश भोगना पड़ता है। परिग्रहकी लालसा वाले पुरुषोंको जीवनमें कभी तृप्ति हो नहीं पाती। जैसे कि अग्निको ईंधनसे तृप्ति नहीं हो सकती अग्नि बढ़ती ही चली जायगी ऐसे ही परिग्रहसे इस जीवको कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती। वे लालसाकी अग्निसे जलते ही चले जायेंगे। परिग्रहका इच्छुक लोभके वशीभूत है, सो वह कर्तव्य अकर्तव्य कुछ भी नहीं गिनता, सो वह इस लोकमें ही अनेक बाधावोंको प्राप्त करता है और मरकर अशुभगतिमें जन्म लेता है। यह लोभी है, यह कृपण है आदिक रूपसे लोक में निन्द्य होता है, इस कारण परिग्रहसे विरक्त होना ही लाभप्रद है। इस प्रकार हिंसा आदिक पापोंमें विघात और अवद्यका देखना ५ व्रतोंकी स्थिरताके लिए आवश्यक कर्तव्य है। अब हिंसा आदिक पापोंमें अन्य प्रकारकी भावनायें बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

दुःखमेव वा ॥७—१०॥

(१३३) **हिंसादि समस्त पापोंकी दुःखकारणता व दुःखरूपता**—हिंसा आदिक पापों के सम्बन्धमें यह भावना और ध्यान रखनी चाहिये कि हिंसा आदिक पाप दुःखस्वरूप हैं। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि दुःख तो असातावेदनीयके उदयसे होने वाला संताप परिणाम है और हिंसा आदिक क्रिया विशेष है, उनको दुःख ही कैसे कह दिया गया? दुःख करने वाला है, दुःखके कारण हैं, इन शब्दोंसे कहते तब तो उचित था, पर यह स्वयं दुःख ही है, यह कैसे कहा गया है? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ कारणमें कार्यका उपचार करके सुगम बोधके लिए इस प्रकार कहा गया है। जैसे लोकमें कहते हैं कि अन्न ही प्राण है तो प्राण तो जुदी चीज है, अन्न जुदी चीज है, किन्तु यदि अन्न न खाया, भोजन त्याग करदें या न मिले तो ये प्राण नहीं टिक सकते। तो प्राण टिकनेके कारणभूत हैं अन्नादिक सेवन, तो प्राणके कारणभूत अन्नमें प्राणका जैसे उपचार किया जाता है इसी प्रकार दुःखके कारणभूत हिंसा आदिकमें ये पाप दुःख ही हैं, इस प्रकारका उपचार किया गया समझना, अथवा कभी कभी तो कारणके कारणमें भी कार्यका उपचार होता है। जैसे प्राणका कारण तो अन्नपान है और भोजनादिक अन्न आदिक कैसे लाये जायें तो उसका उपाय है पैसा। तो कभी ऐसा भी कहा जाता कि यह पैसा ही प्राण है, तब ही तो कोई पुरुष धन हर ले तो कहा करते हैं कि वह उसका प्राण हरता है। तो तीसरी बात यह है कि हिंसा आदिक पाप असातावेदनीय कर्मबन्धका कारणभूत है और असातावेदनीय कर्म दुःखका कारणभूत हैं। तो दुःखके कारणके कारणका दुःखका उपचार किया गया है। दुःखके कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं असातावेदनीय कर्मविपाक और असातावेदनीयके बन्धका कारण है हिंसा आदिक पाप, ये दु:ख ही हैं, ऐसा उपचार किया गया है।

(१३४) पापविरक्त संतोंका चिन्तन—पापोंसे विरक्त रहने वाले जनोका ऐसा चिन्तन होता है कि जैसे बधपीड़ा मेरेको अप्रिय है उसी प्रकार सर्व प्राणियोंको बधपीड़ा अप्रिय होती है। जैसे उसके विषयमें कोई मिथ्या बात कही, कटुक वचन बोला तो उनको सुनकर जैसे मेरे अत्यन्त तीव्र दु:ख होता है ऐसे ही खोटे वचनोंसे सर्व जीवोंको दु:ख पहुंचता है और जैसे मेरे इष्ट द्रव्यका वियोग हो जाय, कोई मेरी चीज चुरा ले जाय तो बड़ी तकलीफ होती है इसी प्रकार दूसरोंका द्रव्य हरा जानेसे उन्हें अत्यन्त कष्ट होता है। और जैसे मेरे स्त्रीजनोंका तिरस्कार होने पर तीव्र मानसिक पीड़ा होती है उसी प्रकार अन्य जनों को भी इस कुशीलके प्रसंगमें पीड़ा होती है और जैसे मेरा परिग्रह नष्ट हो जाय या प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो तो उसकी इच्छा रखनेसे और शोकसे दु:ख उत्पन्न होता है इसी प्रकार सर्व प्राणियोंको दु:ख होता है। ऐसी भावना करके अपने समान दूसरोंका दु:ख विचारकर हिंसा आदिक पापोंसे विरक्त रहना ही चाहिए।

(१३५) वैषयिक सुखोंकी दु:खरूपता—यहाँ शंकाकार कहता है कि हिंसा आदिक पापोंको दु:ख रूप ही बताया जा रहा है, सो यह एकान्तसे कहना ठीक नहीं लग रहा, क्योंकि मैथुन प्रसंगमें अर्थात् अब्रह्मचर्य नामक पापमें स्पर्शकृत सुख पाया जाता है। जैसे किसी श्रेष्ठ स्त्रीके कोमल शरीरके संस्पर्शसे रतिका सुख होता है तब हिंसादिक दु:ख ही है, यह बात तो न बनी। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि अब्रह्मचर्यमें सुख रूप वृत्ति नहीं है किन्तु वह तो वेदनाका इलाज है। जैसे दाद खाज हो जानेपर उस दाद खाजसे पीड़ित हुआ पुरुष नखसे पथरी आदिकसे अपना शरीर खुजाता है और उस समय खूनसे गीला हो जाता है तो उस समय दाद खाज मिट तो नहीं रहा, उस समय दु:ख भी होता है लेकिन यह खुजैला उसमें सुख मानता है। इसी प्रकार मैथुनको भोगने वाला मोही प्राणी अपने अज्ञानसे दु:खरूप वृत्तिको भी सुख ही मानता है। अथवा उसकी कल्पनासे भले ही उस समय सुख माना जा रहा हो, पर वह दु:ख का कारण है। इस कारण वह अब्रह्म दु:ख ही है, ऐसी भावना रखनी चाहिए। अब बताते हैं कि जैसे ये क्रिया विशेष जो ५-५ भावनायें कही गईं वे वृत्तियाँ यदि शुद्ध लक्ष्यसे भाई जायें तो व्रतकी पूर्णताको करती हैं, उसी प्रकार अगले सूत्रमें कही जाने वाली भावनायें इस लोक और परलोकके लौकिक प्रयोजनके बिना भायी जाय तो ये भी व्रतकी समृद्धिको करते हैं। तो वे कौनसी भावनायें हैं उसके लिए सूत्र कहते हैं।

http://sahjanandvarnishastra.org/

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥७-११॥

(१३६) **मैत्री प्रमोद कारुण्य व माध्यस्थ्यभावनाका व्रतकी परिपूर्णतामें सहयोग**—सर्व जीवोंमें मैत्री भाव होना, अपनेसे गुणाधिक पुरुषोंमें प्रमोदभाव होना, दुःखी जीवोंमें करुणा भाव होना और अविनेय, उद्दण्ड पुरुषोंमें मध्यस्थभाव होना यह भावना व्रतसम्पत्तिको समृद्ध करती है। मैत्रीका अर्थ है अपने शरीर, मन, वचनके द्वारा करने, कराने, अनुमोदनेके द्वारा दूसरोंके दुःखकी अनुत्पत्तिकी अभिलाषा होना, स्नेहका भाव होना सो मैत्री भावना है। किसी भी जीवको दुःख उत्पन्न न हो ऐसी भावनाको मैत्री कहते हैं। मैत्री भावना वाला जीव न दुःखकी उत्पत्तिका उपाय करता है, न कराता है, न करते हुएको अनुमोदता है। मन, वचन, कायसे गुणित कृतकारित अनुमोदना, इस प्रकार नवकोटिसे सभी जीवोंके दुःखकी अनुत्पत्ति विचारना सो मैत्री भावना है। प्रमोद भावना—अपने मुखकी प्रसन्नता द्वारा नेत्रोंके हर्षण द्वारा शरीरमें रोमांच होना, इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे और स्तुति करना, निरन्तर नाम लेना, गुण बखानना आदिक प्रवृत्तियोंसे जो भक्ति प्रकट की जाती है उसका नाम प्रमोद है। प्रमोद शब्दमें प्र और मोद ऐसे दो शब्दोंका समास है। प्रकर्षरूपसे हर्ष होना, जो रत्नत्रयधारी हैं, ज्ञानमें बढ़े हैं, शान्ति क्षमामें बढ़े हैं, ऐसे पुरुषोंको देखकर ऐसा अन्तरंगमें हर्ष होना कि जिससे मुखपर प्रसन्नता भी स्वयं बनती है, रोमाञ्च हो जाता है, ऐसी भीतरी भक्तिको प्रमोदभावना कहते हैं। कारुण्यभावना—जो जीव दुःखी हैं, दीन हैं, शारीरिक मानसिक दुःखसे पीड़ित हैं, ऐसे दीन पुरुषोंका अनुग्रहरूप परिणाम होना सो कारुण्य है। कारुण्य शब्द करुणसे बना है। करुणस्य भाव कारुण्यं। करुण कहते हैं कोमल पुरुषको, दयाशील हृदय वाले पुरुषको। उसके परिणामका नाम कारुण्य है। माध्यस्थका अर्थ है मध्यमें रहना अर्थात् राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात न होना। किसीके पक्षमें कोई पड़ा है रागसे या द्वेषसे याने किसीसे प्रीति विशेष है तो वह उसके पक्षमें आ जाता है और किसीसे द्वेष बनता है तो उससे भी जो द्वेष रखता हो उसके पक्षमें आ जाता है। तो किसीके पक्षमें पड़नेका नाम पक्षपात है। जहाँ पक्षपात नहीं होता वहाँ वह बीचमें ठहरा है यों कहा जाता है। मध्ये तिष्ठति इति मध्यस्थः तस्य भावः माध्यस्थ्यं। रागद्वेष न करके उपेक्षाभावसे रहना माध्यस्थ्यभाव है।

(१३७) **भावनावोंके आश्रय व आलम्बनोंका दिग्दर्शन**—ये चार भावनायें किनके प्रति की जानी चाहिएँ इसका उत्तर इस सूत्रके तृतीयपदमें है। सत्त्व, गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनेय। सत्त्वका अर्थ है चारों गतियोंके संसारी प्राणी। सत्त्व शब्द सिद्ध धातुसे बना है जिसका अर्थ दुःख पाना है। अनादि परम्परासे चले आये हुए ८ प्रकारके कर्मोंको बंध संततिसे जो तीव्र दुःख वाली योनियोंमें, चारों गतियोंमें दुःख पाते हैं उन्हें सत्त्व

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कहते हैं। सत्त्वका अर्थ हुआ संसारके दीन दुःखी सभी प्राणी—उनमें मैत्री भावना की जाती है। गुणाधिकका अर्थ है जो गुणोंमें अधिक हो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यकतप आदिक गुण हैं। यहाँ गुणके मायने द्रव्य, गुण पर्यायमें कहा हुआ गुण नहीं, शक्ति नहीं। किन्तु जो सदाचार श्रद्धा ज्ञान आदि भली भाँति है वे गुण हैं, उन गुणोंसे जो बढ़े चढ़े हुए हैं उन पुरुषोंको गुणाधिक कहते हैं, गुणाधिक पुरुषोंमें प्रमोदभाव करना व्रतकी निर्दोषतामें साधक है। क्लिश्यमान अर्थात् दुःखी, असातावेदनीयके उदयसे जिन्हें शारीरिक मानसिक दुःख प्राप्त हुए हैं और उस दुःखके संतापसे जो कष्ट पा रहे हैं उन्हें क्लिश्यमान कहते हैं। क्लिश्यमान जीवोंमें कारुण्यभावना कही गई है अविनेय—जो विनेय नहीं हैं, सुपात्र नहीं हैं उन्हें अविनेय कहते हैं। तत्त्वार्थके उपदेशोंका सुनना और उन उपदेशोंको ग्रहण करना—इन दो वृत्तियोंके द्वारा जो पात्ररूप किया जाता है, विनीत किया जाता है उन्हें विनेय कहते हैं। जो विनेय नहीं हैं उन्हें अविनेय कहते हैं। अविनेयका अर्थ है दुराचारी, उद्दण्ड, दुष्ट, प्रकृति वाला, ऐसे पुरुषोंमें मध्यस्थभाव करना बताया है।

(१३८) **चारों भावनावोंमें चिन्तनकी मुद्राकी रेखा**—मैत्री भावनामें ऐसा चिंतन चलता है कि मैं सर्व जीवोंको दुःखी करता हूं, सर्व जीवोंसे क्षमा चाहता हूं, मेरी प्रीति सर्व प्राणियों के साथ है। किसीके भी साथ मेरा बैर मत हो। इस तरहका चिन्तन स्व और अन्य जीवों के स्वरूपका लक्ष्य करके ज्ञानियोंके हुआ करता है। इस प्रकारकी मैत्री सर्व प्राणियोंमें मानना चाहिए। दूसरी भावना—जो सम्यग्ज्ञानसे अधिक है, निर्दोष सम्यक्त्वपालन है, जिनका उपयोग स्वच्छ है, रागद्वेषवृत्तिसे रहित समतापरिणाम वाले हैं ऐसे पुरुषोंके प्रति वंदना करना, स्तुति करना, उनकी सेवा करना आदिक प्रवृत्तियोंसे प्रमोदभाव बनाना चाहिए। जो पुरुष कष्ट पा रहे हैं, मोहसे दबे हुए हैं, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञानसे घिरे हुए हैं और विषयों की तृष्णाकी अग्निसे जिनका मन चलित हो रहा है, जिनकी प्रवृत्ति विपरीत हो रही, हितकार्योंसे हटे हुए हैं, अहित कार्योंमें जुटे हुए हैं, नाना प्रकारके दुःखोंसे घिरे हुए हैं, ऐसे दीन पुरुषोंमें, कृपण पुरुषोंमें, अनाथमें, बालकमें, वृद्धमें अनुकम्पाभाव जगना—ऐसी करुणा की भावना होनी चाहिए। जो पुरुष ऐसे अपात्र हैं कि जो उपदेश ग्रहण कर नहीं सकते, भली बातको हृदयमें धार नहीं सकते, ज्ञानकी बात सुनना भी पसंद नहीं करते, जिनमें सही तर्क वितर्ककी योग्यता ही नहीं है, महान मोहसे तिरस्कृत हैं, विरुद्ध प्रवृत्तियाँ करते रहते हैं, ऐसे प्राणियोंमें माध्यस्थ्यभावना रखनी चाहिए, क्योंकि ऐसे जीवोंमें हितका उपदेश भी सफल नहीं होता। ऐसे इन चार भावनाओं द्वारा अहिंसा व्रतकी परिपूर्णता होती है। अब यह जिज्ञासा होती है कि व्रतोंकी परिपूर्णताके लिए जो भावनायें बतायी गई हैं, क्या मुमुक्षु महाव्रतधारी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषोंको उतनी ही भावनायें करना चाहिएँ या कुछ और भी उनके योग्य चिंतन है ? उसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥७-१२॥

(१३९) संवेग व वैराग्यकी वृद्धिके लिये जगत और कायके स्वभावका चिन्तन—संवेग और वैराग्यकी वृद्धिके लिए संसार और शरीरके स्वभावका चिन्तन करना चाहिए। जगतके मायने यह सर्व दृश्यमान वैभव संचेतन अथवा अचेतन। शरीर शरीरको ही कहते हैं। इसका स्वभाव अर्थात् इसकी जो तारीफ है जिस रूपसे जगत और शरीर बर्तते हैं, वह उनका स्वभाव है। सो संसार और संसारका स्वभाव संवेग और वैराग्यके लिए चिन्तन करना चाहिए। संवेगका अर्थ है संसारसे भय रखना। भयका अर्थ क्या ? कि संसार दुःखमय है इस कारण संसारमें लगना योग्य नहीं है, उससे हटना ही श्रेयस्कर है, ऐसे भाव सहित संसारसे अलग होनेका यत्न करना यही संवेग कहलाता है। विराग कहते हैं विषयों से विरक्त होनेको। चारित्रमोहका उदय न हो, चाहे चारित्रमोहका उपशम हो, क्षय हो या क्षयोपशम हो, किसी भी स्थितिमें चारित्रमोहका विपाक न हो तो उस समय जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दसे राग हटता है उसको विराग कहते हैं। विरागके भावको वैराग्य कहते हैं। किस प्रकार जगतकायका स्वभाव विचारा जाता है ? १—संसारका स्वभाव—यह लोक इस परिणमते हुए द्रव्योंका समुदाय है। जो सभी द्रव्य अनादि कालसे अवस्था बदलते जा रहे हैं इस कारण आदि वाले हैं और इनकी सत्ता किसीने नहीं बनायी है। ऐसा यह अनादि है। यों नित्यानित्यात्मक द्रव्यका समुदाय यह लोक है। इस लोकमें जीव चारों गतियोंमें नाना तरहके दुःखोंको भोग-भोगकर परिभ्रमण कर रहे हैं। इस लोकमें कुछ भी वस्तु नियत नहीं है। यह जीवन जलके बुदबुदेके समान क्षणभंगुर है। यह भोग समुदाय बिजलीकी तरह क्षणस्थायी है या मेघ आदिकका जो आकार प्रकार बनता है उसकी तरह अत्यन्त चंचल है। इस शरीरमें लगाव रखने से आत्माका हित नहीं है, ऐसा ध्यान करना सो सम्वेगकी वृद्धिका कारण है। शरीरके स्वभावका यों चिन्तन करना कि यह शरीर अनित्य है, यह नियमसे बिखरेगा, नष्ट होगा और यह शरीर ही दुःखका हेतु है, क्योंकि वेदनायें, इष्ट कल्पनायें, शारीरिक मानसिक सभी प्रकारके कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे होते हैं। यह शरीर सारहीन है, अपवित्र है, ऐसी शरीरके प्रति भावना करनेसे वैराग्य जगता है और जहाँ सम्वेग और वैराग्य भाव जगता है वहाँ धर्ममें बहुत आदर होता है। धार्मिक पुरुषोंकी संगति रुचती है, मनमें विशुद्ध प्रसन्नता रहती है, आरम्भ परिग्रहमें दोष देखनेके कारण विरतिपरिणाम रहते हैं। उत्तरोत्तर आगे गुणोंका विकास होता है। गुण-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विकासमें मोक्षमार्गमें श्रद्धा बढ़ती है, ऐसी इन भावनाओंसे जिसका चित्त भरा हुआ है वह पुरुष व्रतोंके पालन करनेमें दृढ़ होता है।

(१४०) **स्याद्वादशासनमें भावनाओंकी सफलताका सयुक्तिक कथन**—यहाँ एक बात यह जानना कि व्रतोंकी पुष्टिके लिए जितनी भावनायें कही गई हैं वे भावनायें तब ही बन सकती हैं जब कि सर्व पदार्थ नित्यानित्यात्मक हों। सो ऐसा है ही। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हो तो वहाँ कोई परिणति ही नहीं सम्भव है। फिर भावनायें कैसे बनेंगी ? भावनायें करने वाले जीवको कोई सर्वथा नित्य अपरिणामी, जिसका कुछ बदल परिणमन हो ही नहीं सकता है कूटस्थ ध्रुव माने तो वहाँ कुछ परिणति ही न बनेगी तो भावना कैसे जगेगी ? और यदि आत्मामें विक्रिया मानते हैं अर्थात् परिणमन, बदल भाव होना मानते हैं तो वह आत्मा एकान्ततः नित्य तो न रहा, इसी प्रकार यदि आत्माको सर्वथा अनित्य माना जाय तो अब यह आत्मा अनेक समयोंमें तो रहा नहीं। क्षणिकका अर्थ है—एक क्षणको सत्ता है, आगे सत्ता नहीं है। तो जब अनेक क्षणोंमें न रह सका कोई वस्तु यह आत्मा तो अनेक पदार्थोंके विषय में एक ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है। जब क्षण-क्षणमें नये-नये ज्ञान अथवा आत्मा बन रहे तो कोई भी आत्मा पहलेके समयोंके पदार्थोंका स्मरण नहीं कर सकता, और जब कुछ स्मरण नहीं हो सकता आगे पीछेका तो वहाँ भावना भी नहीं बन सकती। सो सर्वथा नित्यवादियों के यहाँ भावना साधना नहीं बन सकती ऐसे ही सर्वथा अनित्यवादियोंके यहाँ साधना नहीं बन सकती, किन्तु स्याद्वाद शासन मानने वालेके साधना भावना सब बनती है। स्याद्वाद शासनमें द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य है तब अन्तरंग बहिरंग कारणके वशसे उसमें उत्पादव्यय भी निरन्तर होता रहता है इस कारण अनित्य है। तो उत्पादव्ययध्रौव्यसे युक्त आत्मामें स्मरण बन सकता है और परिणति बन सकती है और इस प्रकार भावना, साधना क्रिया जाना सिद्ध होता है। इस सम्बंधमें अपने आपके प्रति ऐसा निरखना चाहिए कि यह मैं आत्मा अनादि से अनन्त काल तक रहने वाला एक चैतन्य पदार्थ हूं। चूंकि जो भी सत् है, सबका स्वरूप है उत्पादव्यय होना और उत्पादव्यय होकर भी सत्ता बनी रहना, सो मैं सदा रहूंगा, पर जैसी परिणति करूँगा वैसा ही फल भोगूंगा। इससे स्वभावके अनुरूप मेरी परिणति बने तो उसमें मेरा कल्याण है और स्वभावके विरुद्ध मेरा परिणमन चले तो उसका फल चारों गतियोंमें जन्म मरण करके दुःख पाते रहना है। इससे पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर उनसे मोह हटाना और अपने आपके ज्ञानानन्द स्वरूपमें उपयोगका मग्न करना—यह कल्याणार्थीका कर्तव्य है। इस अध्यायमें प्रथम सूत्रमें बताया गया है कि हिंसा आदिक पापोंसे निवृत्त होना व्रत है, तो हिंसा आदिक क्या कहलाते हैं ? वह कौनसी क्रिया विशेष है, उनका जानना तो बहुत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आवश्यक है ताकि उन परिणामोंसे विरत होनेका प्रयोग परीक्षण हो सके। सो उस विषयमें चूंकि एक साथ सबको नहीं कहा जा सकता तो सूत्रमें जिसका प्रथम निर्देश है उस निर्देश माफिक सबसे पहले हिंसाका लक्षण कहते हैं।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥७-१३॥

(१४१) **प्रमत्तयोगसे प्राणव्यपरोपणकी हिंसारूपता**—कषाय सहित योगसे प्राणका घात हो जाना हिंसा कहलाती है। प्रमत्तभाव किसका नाम है ? इन्द्रियके प्रचार विशेषको न निरखकर जो परिणति होती है वह प्रमत्तभाव है। जिसमें विषयोंकी प्रीति है, लगाव है, स्वार्थ है, कषायभाव है ऐसा लौकिक प्रयोजन जहाँ बसा हुआ है, खुदगर्जी है ऐसे खोटे परिणामोंके साथ जो प्राण विपरोहण होता है अर्थात् प्राणोंका घात होता है उसका नाम हिंसा है अथवा यहाँ प्रमत्त शब्दमें यह लगाकर अर्थ करना। प्रमत्तकी तरह योगसे प्राण का घात करना हिंसा है। किस तरह कि जैसे मद्य पीने वाला पुरुष जब उसका मदायलापन बढ़ जाता है तो यह कर्तव्य है, यह नहीं है कर्तव्य, यह बोलना चाहिए, यह न बोलना चाहिए इस विचारसे वह हट जाता है। उसे कहते हैं प्रमत्त। तो ऐसे हो जिसको जीवस्थानोंका पता नहीं, योनियोंका पता नहीं, जीव कहाँ पैदा होते हैं, किस प्रकारके होते हैं, किन-किन आश्रयों में रहा करते हैं इसे जो नहीं जानता और कषायका है उसके उदय, विषयोंमें है उसकी लगन, खुदगर्जीमें वह बस रहा है तो हिंसाके कारणोंमें लग जाता है जिससे कि प्राणोंका घात होता है। तो वह अहिंसामें प्रवृत्ति नहीं कर पाता, उसीका नाम प्रमत्त है, याने अज्ञानी और कषायवान जीवको प्रमत्त कहते हैं।

(१४२) **प्रमादविशेषोंका वर्णन**—प्रमाद १५ प्रकारके कहे गए हैं। उन भावोंसे जो च्युत हो उसे प्रमत्त कहते हैं। वे १५ प्रमाद कौनसे हैं ? चार विकथायें—१-स्त्रीकथा, २- राजकथा, ३ देशकथा और ४-भोजनकथा। स्त्रीविषयक चर्चा कहनी कहना सुनना यह स्त्रीकथाका प्रमाद है, क्योंकि स्त्रीविषयक कैसी भी चर्चा करनेसे थोड़ा रागका भाव आता है और उससे प्रमाद होता है, कषाय बढ़ती है। राजकथा—राजाकी कथा करना, अमुक राजा ऐसा है अमुक ऐसा है, अरे क्या प्रयोजन पड़ा है राजाओंकी चर्चा करनेका ? बल्कि उससे तो लौकिकतामें गति बढ़ जाती है। देशकथा—देशोंकी कथा करना, अमुक देशमें यह है अमुक यों है, यों देशोंकी बात करना देशकथा है। ये सब करना चाहिए या नहीं, इसके तो उत्तर लोगोंके चित्तमें भिन्न-भिन्न गुणोंके अनुसार अनेक होंगे, किन्तु मोक्षमार्गमें जहाँ संसारसे छुटकारा पाकर मुक्ति पानेका पौरुष सोचा है वहाँ तो किसी भी प्रकारके कषाय परका लगाव रखना कर्तव्य नहीं है। तो ये सब प्रमाद करना योग्य नहीं है, भोजनकथा—

http://www.jainkosh.org

इस प्रकारका भोजन बना, उसका स्वाद अच्छा है आदिक भोजनकी कथा करना, मैंने अच्छा खाया, कल यों खाऊँगा, यह चीज बनाऊँगा, तो इस भोजनकथामें प्रमाद होता है, कषाय जगती है। भोजन किया जाता है शरीरकी स्थिति रखनेके लिए। इतना ही यदि भाव है तो भोजन करते हुए भी वह भोजन नहीं कर रहा। घाटी नीचे माटी। उस स्वादका क्या उठता है? बल्कि स्वादके वश होकर अपथ्य भोजन हो जाता है। तो भोजनकथा प्रमाद है। चार कषाय प्रमाद हैं— १– क्रोध, २–मान, ३–माया, ४–लोभ। ये जीवके स्वभाव नहीं हैं, यह कर्मके उदयकी झाँकी है। और कर्मछाया जो कि इस जीवकी भूमिकापर पड़ी है यह उसमें व्यामुग्ध हो जाता है और कषायसे भिन्न अपनेको नहीं समझ पाता। कषाय प्रमाद है। ५ इन्द्रियके विषय––स्पर्शनइन्द्रियके विषयमें अनुरागी होना, किसीका कोमल शरीर छूनेका भाव होना, रसनाके विषयको भोगनेका भाव होना, घ्राण, चक्षु, कर्ण विषयके भोगनेके भाव, यह इन्द्रियके वश होना है और निद्रा स्नेह ये दो प्रमाद और हैं, नींद आना आलस्य आना यह प्रमाद है और स्नेह जगना यह प्रमाद है। तो इन १५ प्रकारके प्रमादों में जो परिणमता है उसे प्रमत्त कहते हैं। योग शब्द यहां सम्बन्धके अर्थमें आया है प्रमत्तके योगसे।

(१४३) **प्रमादभावमें प्रमत्तता व प्राणव्यपरोपणमें प्राणीका घात**—यहां शङ्काकार कहता है कि यदि प्रमत्तभावके सम्बन्धसे यह अर्थ इस पदका है तो प्रमत्त शब्दमें त्व प्रत्यय और लगाना चाहिए प्रमत्तपनेके योगसे, क्योंकि द्रव्यप्रधान शब्द रखनेपर समयकी प्रतीति नहीं होती। जैसे कषाय भावके सम्बन्धसे यह तो युक्त हो जाता कि यह अमुक कार्य किया जा रहा है पर कषायीके संयोगसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं बैठता। तो यहां प्रमत्त शब्दमें त्व प्रत्यय और लगना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहां प्रमत्त शब्द आया तो है द्रव्यप्रधान, पर आत्माके परिणामके लिए ही यह प्रमत्त शब्द दिया है। कर्तृ-साधनमें बना हुआ प्रमत्त शब्द आत्माके परिणाममें ही दिखाया गया है। जिसने प्रमाद किया है वह परिणाम उसके योगसे प्राणोंका घात होना हिंसा है अथवा यहाँ योग शब्दका अर्थ लीजिए काययोग, वचनयोग, मनोयोग। काय, वचन, मनकी क्रियासे। तब इस पदका अर्थ होगा कि प्रमत्त जीवके काय, वचन, मनकी क्रियासे प्राणोंका घात होना हिंसा है। यहां व्यपरोपण शब्द दिया है, जिसका अर्थ है वियोग करना। प्राण १० प्रकारके बताये गए हैं—५ इन्द्रियप्राण, ३ बल, १ श्वासोच्छ्वास और १ आयु। इन प्राणोंका वियोग करना सो व्यपरोपण कहलाता है। प्राणोंका वियोग करनेसे हिंसा प्राणीकी होती है, क्योंकि प्राणी तो निरवयव है, उसका क्या वियोग है? वह तो पूर्ण है। प्राणका वियोग होता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। जैसे आयुका विच्छेद, श्वासका विच्छेद। इन्द्रियको हटा देना। प्राणका वियोग होनेसे आत्माको ही तो दुःख होता है, इस कारण प्राणका वियोग कर देना हिंसा है और अधर्म है क्योंकि प्राण आत्मासे सर्वथा जुदे नहीं हैं।

(१४४) **आत्माकी प्राणोंसे भिन्नता व अभिन्नताकी मीमांसा**—एक नयमें आत्मासे प्राण जुदे दिखते हैं पर वह है निश्चयनय, स्वरूपदृष्टि। प्रत्येक पदार्थका स्वरूपास्तित्व उसका उसमें ही हुआ करता है, इस दृष्टिसे शरीरकी बातें भिन्न हैं, आत्मा भिन्न है, किन्तु इस समय सर्वथा भिन्न नहीं है। उनका सम्बंध है, उनका बन्धन है और वहाँ प्राणोंका घात होनेपर आत्माको कष्ट होता है। तो इस कारण प्राणका घात होनेसे दुःख है और हिंसा है और वही अधर्म है। प्राण आत्मासे भिन्न चीज है, इसको भी मना नहीं किया जा सकता। स्वरूपदृष्टिसे देखें तो भिन्न है, पर यह शंका न रखना कि जब प्राण भिन्न हैं आत्मासे तो उनका वियोग करनेपर आत्माको दुःख न होना चाहिए। यह शंका यों न रखना कि जब अत्यन्त भिन्न पुत्र, स्त्री मित्रादिकके वियोगमें आत्माको कष्ट होता है फिर प्राण तो कथंचित् भिन्न हैं, सर्वथा भिन्न नहीं, तो उनके वियोगमें कष्ट तो होता ही है जीवोंको। यद्यपि शरीर जुदा है, शरीरमें रहने वाले जीव जुदे हैं, शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, सो लक्षणके भेदसे अत्यन्त जुदी बात है, लेकिन दोनोंका इस तरहका बंध है कि इस हालतमें तो एकत्व बन रहा है। शरीरके वियोगसे होने वाला दुःख आत्माको ही होता है, इस कारण प्राणका वियोग करना हिंसा है, अधर्म है। जो लोग आत्माको निष्क्रिय मानते हैं, नित्य शुद्ध मानते हैं, सर्वव्यापी मानते हैं उनके यहाँ शरीरसे बन्धन नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ आत्मा सर्वव्यापक माना है। शरीर तो थोड़े देशमें है और जब शरीरसे बंध न बन सका केवल उनकी कल्पनामें तो दुःख भी न होगा, हिंसा भी न होगी, पाप भी न लगा। तो पापसे छूटनेका उद्यम भी क्यों करना? फिर व्रत, तप आदिक भी न करने होंगे। तो धर्म कर्मका कुछ भी सम्बन्ध न रहा जो आत्माको निष्क्रिय नित्य शुद्ध मानते हैं।

(१४५) **प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपणका सम्बन्ध**—इस सूत्रमें दो बातें कही गई हैं—१–प्रमत्त योग और २–प्राण व्यपरोपण। ये दोनों विशेषण इस बातको सूचित करते हैं कि दोनोंके होनेपर हिंसा होती है। इनमें से एक अगर नहीं है तो हिंसा नहीं होती। जैसे प्रमत्त योग न हो, सिर्फ प्राण विपरोपण हो तो वह हिंसा न कही जायगी। जैसे मुनि महाराज शुद्धभावसे ईर्यासमितिपूर्वक गमन कर रहे हैं और कदाचित् कोई छोटा प्राणी, कुन्थु जीव पैर धरनेके समयपर ही आ जाय और मर जाय तो भी चूँकि मुनिके परिणाममें कोई भी खोटापन नहीं है, न कषाय है तो उसे हिंसा नहीं होती। तो प्रमत्त योग न होने पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्राण विपरोपण भी हो जाय तो भी हिंसा नहीं होती। वास्तवमें तो परिणामोंमें विकृति आये तब हिंसा है। तो विकृतिका ही नाम प्रमत्त योग है, उसके अभावमें प्राणवियोग होने पर भी हिंसा नहीं है। यहाँ शंकाकार कहता है कि आप तो दोनों विशेषणोंको आवश्यक बतला रहे हैं, किन्तु शास्त्रमें तो यह बताया है कि चाहे प्राणका घात न हो, पर प्रमत्तयोग हो तो हिंसा हो ही जाती है। जीव मरे या न मरे पर सावधानपूर्वक जो न चले, जिसके प्रमत्त योग बर्त रहा है उसे तो हिंसा ही है और जो प्रयत्नशील हैं, सावधानीसे गमन कर रहे हैं उनके द्वारा कदाचित् कोई प्राणवियोग भी हो जाय तो भी बंध नहीं बताया, तो नियम तो न बना इन दोनों विशेषणोंका कि एक न हो तो केवल दूसरेके रहनेसे हिंसा नहीं है। प्रमत्तयोग हो और प्राणविपरोप हो, दोनों ही बातें हों तब हिंसा होती है, यह बात तो न बनी। अब इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जहां प्रमत्तयोग है वहां प्राणोंका घात नियम से है। दूसरेके प्राणका वियोग न सही मगर खुदके ज्ञान दर्शन प्राणका तो घात हो गया। और वास्तवमें हिंसा तो अपने ही प्राणोंका घात होनेसे हुआ करती है। तो भावप्राणोंके वियोगकी अपेक्षा दोनों विशेषण यहाँ सार्थक हैं, वास्तवमें जिसके प्रमत्त योग है वह प्रमादी आत्मा पहले तो अपने विकार भावके कारण अपनी हिंसा करता है, चाहे फिर दूसरे प्राणी का बध या प्राणवियोग हो अथवा न हो।

(१४६) **प्रमत्तयोग बिना हिंसा न होनेसे अटपट शंकावोंका अनवकाश**—प्रमत्तयोग बिना हिंसा न होनेके कारण यह दोष भी नहीं बन सकता कि संसारमें तो सब जगह प्राणी भरे हैं—जलमें, थलमें, नभमें, तुम कहाँ बैठोगे ? जहाँ बैठोगे वहीं प्राणी भरे पड़े हैं, वहाँ कितने ही प्राणोंका घात हो रहा है। तो अहिंसक कोई नहीं बन सकता। तो यह दोष शंका नहीं बनता, क्योंकि जो ज्ञानध्यानमें लवलीन है, प्रमादरहित है, कषायपर विजय करने वाला है, विषयोंसे विरक्त है, ऐसे साधुको केवल प्राणवियोग हो जानेसे हिंसा नहीं होती। हिंसाका मूल आधार है अपने प्राणोंका घात होना। बाहरमें कौन पदार्थ कैसा परिणम रहा है, कहाँ क्या बन गया है ? इसके आधारपर हिंसा नहीं है, अपने ही भाव खोटे होनेके आधारपर हिंसा मानी गई है। अन्यथा अनेक अटपट शंकायें आ सकती हैं। कोई साधु उपवास करता है तो उपवास करनेसे पेटके कीड़ोंको कष्ट पहुंचा कि नहीं ? उनको खुराक न मिली और जब पेटके कीड़ोंको दुःख हुआ तो साधुको हिंसा लग जाना चाहिए, क्योंकि आहारका त्याग कर देनेसे पेटके अन्दरके अनेक कीड़ोंकी मौत हुई। तो यों हिंसा नहीं लगती साधुके, क्योंकि उसके खोटे भाव तो नहीं हैं। उसके तो अपने रत्नत्रयका परिणाम है, स्वभावदृष्टि है, आत्माकी साधना है, तो जहाँ प्रमत्त योग हो, जहाँ खोटे परिणाम हों वहाँ खुदका घात तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो ही जाता है। ज्ञान दर्शन सही रूपमें न रह सके, यही तो हिंसा है। जीव दो प्रकारके पाये जाते हैं—(१) स्थूल और (२) सूक्ष्म। तो उनमें जो सूक्ष्म जीव हैं वे न तो किसीसे रुक सकते हैं, न किसीको रोक सकते हैं, उनके तो हिंसा होती ही नहीं है। जगतमें सूक्ष्म जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय निगोद जीव, उनका किसीसे छिड़ना भिड़ना हो ही नहीं सकता। अग्नि भी जल रही हो तो भी अग्निके कारण नहीं मरते। उनकी स्वयं आयु एक सेकेण्डमें २३वें हिस्सेकी है अर्थात् वे सेकेण्डमें २२-२३ बार जन्ममरण करते हैं, पर सूक्ष्म जीव किसी पर-पदार्थकी टक्करसे नहीं मरा करते। जो स्थूल जीव हैं उनकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है और उनकी हिंसा रोकना शक्य है। अपनी चेष्टा सही बनायें, देख-भालकर निरखकर प्रवृत्ति करें तो उन स्थूल जीवोंकी हिंसा न होगी, तो इसी कारण स्थूल जीवोंकी यथाशक्ति रक्षा की जाती है। तो जिनकी हिंसा रोकना शक्य है उनके हिंसाका भाव जो नहीं रख रहे और प्रयत्नपूर्वक उस हिंसाको दूर करता रहे तो ऐसे संयतकी हिंसा कैसे सम्भव हो सकती ?

(१४७) प्राणव्यपरोपणसे प्राणीका घात होनेके कारण हिंसाकी उपपत्ति—इस सूत्र में बताया है कि प्राणका वियोग तो प्राणका हुआ मगर हिंसा किसकी बनी ? प्राणीकी। यदि प्राणी न हो तो प्राण किसके ? प्राण पुण्य पाप भावसे बनते हैं और पुण्य पाप कर्म जीवके पापका निमित्त पाकर बनते हैं। अगर जीव नहीं है तो पुण्य पाप भी नहीं है। प्राण भी नहीं है, पर ऐसा नहीं है। यह प्राणोंका सद्भाव प्राणीके अस्तित्त्वको सिद्ध करता है। जीव है शरीरमें क्योंकि श्वास आ रही, इन्द्रियाँ काम कर रहीं, तो इन प्राणोंके सद्भावसे प्राणी जीव का परिचय होता है। जैसे कि किसी घरमें कोई लुहार बैठा हुआ लोहेका कार्य कर रहा है, संडासीसे लोहपिण्डको नीचा ऊँचा उठा रहा है, वह लोहार दरवाजेके एक तरफ भींतकी आड़ में है, वह बाहरसे दिखता नहीं, मगर संडासीका उठाना, पकड़ना, चलाना देखकर यह अनुमान बनता है कि यह लोहार है और कार्य कर रहा है, ऐसे ही इन्द्रिय आदिक प्राणोंका सद्भाव देखकर यह ज्ञान बनता है कि इसमें प्राणी है, जीव है। यदि प्राणी न हो तो देखना, अनुभवना, पाना, ग्रहण करना, संस्कार बनना आदि सब बातें न हो सकेंगी। तो अब शक्तिहीन हो जाने से ये भौतिक पदार्थ अथवा कोई क्षणिक आत्मा माने तो वह एक दूसरेके उपकारके प्रति अब उत्सुकता न रखेगा। तो आत्माका सद्भाव न मानने पर कर्ता का अभाव होनेसे फिर पुण्य पापकर्म न बनेगा और प्राणोंका अभाव हो जायगा और जो कुछ यह देखना अनुभवना चल रहा है, ये कुछ न बनेंगे। ये अचेतन पदार्थ अथवा क्षणिक आत्मा जब अपने ही कार्य करनेमें असमर्थ है तो हिंसाका व्यापार कैसे कर सकेगा और हिंसाका व्यापार देखा जा रहा है, इस कारण हिंसाका करने वाला आत्माका सद्भाव है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और उस प्राणीका सद्भाव होनेसे प्राणोंका भी सद्भाव बनता है। और प्राणोंके व्यपरोपण से प्राणीका घात होता है।

(१४८) **क्षणिकवादमें हिंसा हिंसाफल संसार मोक्षमार्ग व मोक्षकी अनुपपत्ति**— जो सिद्धान्त आत्माको क्षणिक मानते हैं उनके यहां एक ही आत्मा कोई देखे, अनुभवे, प्राप्त करे, निमित्तका ग्रहण करे उसमें संस्कार आये, स्मरण करे– ये सारी बातें नहीं हो सकती हैं, क्योंकि ये बातें भिन्न-भिन्न आत्मावोंमें रहेंगी। एक ही समयमें ये सारी क्रियायें नहीं हो सकतीं। तो जब स्मरण न हो सकेगा तो कैसे यह कर्ता है? इसने फल भोगा, यह फल पायगा। यह एक कर्तामें नहीं बन सकता। तो न हिंसाका व्यापार बन सकेगा और न फल पानेका व्यापार बन सकेगा। उत्पत्तिके बाद जब आत्मा तुरन्त नष्ट हो गया और विनाश अहेतुक है तो किसीका प्राण नष्ट हो गया उसमें भी कोई हेतु न रहा। जब किसीके द्वारा किसी का प्राण नष्ट होता ही नहीं है तो कोई हिंसक कैसे कहलाया? और उसे हिंसाका फल क्यों मिलेगा? फल मिलता रहेगा दूसरेको जिसने हिंसा नहीं की। ऐसी अंधेरगर्दी होवे तो फिर इस लोकमें कोई हिंसक ही नहीं हो सकता। करेगा कोई, पाप लगेगा दूसरेका, फल पायगा कोई और ही। ऐसा तो हो न सकेगा कि किसी भिन्न संतानमें आये हुए आत्माके प्राणके वियोगसे हिंसा लग जाय। तो क्षणिकवादमें न पापकी व्यवस्था बनती, न फल पानेकी व्यवस्था बनती, न फल पानेकी व्यवस्था बनती और न मोक्षमार्ग बनता। जो सिद्धान्त आत्माको नित्यानित्यात्मक मानते हैं और है भी ऐसा ही सो उनके यहाँ ही संसार और मोक्षकी व्यवस्था हो सकती है। अब हिंसाका लक्षण कह कर असत्यका लक्षण कहते हैं।

असदभिधानमनृतम् ॥७—१४॥

(१४९) **असत्य पापका लक्षण**—असत्य कहना अनृत पाप है अर्थात् झूठ नामका पाप है। सत्का अर्थ है उत्तम। प्रशंसावाची शब्द है यह। और जो सत् नहीं है वह असत् है अर्थात अप्रशस्त अयोग्य निन्द्य, उसका कथन करना सो असत्य है। जो पदार्थ जिस प्रकार विद्यमान है उस प्रकार न कहकर अन्य प्रकार कथन करना असत्य है। यहाँ शंकाकार कहता है कि सूत्रको यदि इन शब्दोंसे बनाते मिथ्या अनृतं, तो यह बड़ा छोटा सूत्र बनता। और सूत्र जितना छोटा बने उतना ही भला माना गया है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि मिथ्या शब्द देनेसे झूठके जो अर्थ हैं उनका पूरा बोध नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्याका तो अर्थ इतना ही है कि उल्टा। उल्टा कहना झूठ है सो कोई उल्टा कहे, जो विद्यमान है उसका लोप करे और जो है ही नहीं उसका कथन करे, बस इतना ही झूठ शब्दमें आता, अन्य असत्योंका ग्रहण नहीं होता। जैसे अनेक सिद्धान्त लोगोंके द्वारा माने गए हैं कि आत्मा नहीं है, पर कहीं लोन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है तो विद्यमानका लोप करना झूठ है, उसका ग्रहण हो गया। इसलिए कोई लोग कहते हैं कि आत्मा कंगनीके चावल बराबर है, अंगूठीकी पोर बराबर है। कोई आत्माको सर्वव्यापी मानते, कोई निष्क्रिय मानते। तो जो मिथ्या वचन बोले गए वे ही असत्य कहलाते मिथ्या शब्द कहनेसे, पर जो अप्रशस्त वचन हैं, खोटे वचन हैं, दूसरेको पीड़ा पहुंचाने वाले कटुक वचन हैं वे तो असत्य नहीं कहलाते, लेकिन असत्य वे भी हैं। जिन वचनोंसे दूसरोंका अहित हो वे भी असत्य कहलाते हैं। इस तथ्यको सिद्ध करनेके लिए सूत्रमें असत्‌का अभिधान अर्थात् कथन, यह शब्द दिया है। अब असत्यका लक्षण कहकर चौर्य पापका लक्षण कहते हैं।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥७-१५॥

(१५०) **चौर्य पापका लक्षण**—अदत्तका ग्रहण करना चोरी है। जो किसीके द्वारा दिया गया नहीं है, बिना दिए हुएको ग्रहण कर लेना चोरी है। यहां एक जिज्ञासा होती है कि कर्मोंको तो कोई देता नहीं है और उसे यह आत्मा ग्रहण करता है। अपने शुभ अशुभ परिणामोंके द्वारा आत्मा कर्मवर्गणाओंको गहण करता है वहाँ आस्रव होता है। तो लो यह बिना हुए ही ले लिया। तो उसे चोरीका पाप लग जाना चाहिए और ऐसे कर्मोंका ग्रहण वीतराग मुनि संतोंके भी चलता है और शरीरवर्गणाओंका ग्रहण भी चलता रहता है, शरीर वर्गणावोंका ग्रहण तो सशरीर परमात्माके भी चल रहा है, तो क्या ये सब चोरी पाप कह-लायेंगे ? इस जिज्ञासाके समाधानमें कहते हैं कि अदत्त शब्दका अर्थ यह है कि जिसके विषय में दिया गया, नहीं दिया गयाका व्यवहार होता है। जिसके देनेमें और लेनेमें प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी जाती है। जैसे किसीने स्वर्ण, भोजन आदि दिया तो उससे वह निवृत्त हो गया। किसीने ग्रहण किया तो वहां देने लेनेकी और प्रवृत्ति निवृत्तिकी जहाँ सम्भवता है, वहाँ ही बिना दिया हुएको ग्रहण करना चोरी कहलाता है। इससे कर्म आते हैं उनसे चौर्य पापकी व्यवस्था नहीं की गई। कोई यह न समझे कि ये अपनी इच्छासे ही अर्थ लगाये जा रहे हैं। अदत्तादान शब्द ही इस बातको जतला रहा है याने जिसमें देनेका प्रसंग है उसीको न देनेपर अदत्त कहलाता है। जैसे वस्त्रपान भोजन आदिक हाथ आदिकके द्वारा दिये जाते, लिए जाते उस तरह कर्मका देने लेनेका व्यवहार नहीं है। कर्म तो अत्यंत सूक्ष्म हैं। उनके हाथ आदिक के द्वारा देना लेना नहीं होता। वहाँ तो केवल यह व्यवस्था है कि जीवके रागद्वेषरूप परि-णाम होते हैं तो उसका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। सो सर्व पदार्थोंका परिणमन स्वतन्त्र है, उसमें देन लेनका संकल्प नहीं है। नैमित्तिक भाव है, उनमें अदत्तादानकी बात नहीं आती। वह तो सब निमित्तनैमित्तिक भावका परिणाम है। जीवके रागादिक भाव होते हैं, कर्मोंका आस्रव होता है। जब गुप्ति आदिक सम्वर भाव होते हैं तब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आस्रवका निरोध हो जाता है। यहाँ लौकिक लेनदेनका व्यवहार नहीं है। जहाँ लेनदेनका व्यवहार है वहाँ ही बिना दिए हुएका ग्रहण करनेमें चौर्य पाप होता है।

(१५१) प्रमत्तयोगके बिना पापकी असंभवता—अब एक शंकाकार कहता है कि इन्द्रियके द्वारा शब्दादिक विषयोंका ग्रहण देखा जाता है और यह बात साधु महाराजके भी बन रही है, नगरके दरवाजे आदिकसे साधु गुजरता है तो वह भी बिना दिए हुए द्वारको प्राप्त करता है तब तो साधुको भी चौर्यपाप लगना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे हिंसा लक्षण वाले सूत्रमें प्रमत्त योग शब्द दिया था कि कषायसहित परिणाम होने से हिंसा होती है, तो उसकी अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्रमें भी आयी कि कषायसहित होनेसे असत्का कथन करना झूठ है सो उसकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है। कषायभावसे बिना दिए हुएका ग्रहण करना चोरी है। तो जो साधु यत्नवान है, देख-भालकर चलता है, किसीके प्रति बुरा भाव रखता नहीं, अप्रमत्त है, आगममें कही हुई विधिसे आचरण कर रहा है यदि उसके कानमें शब्दादिक सुननेमें आ गए तो इसमें चोरीका दोष नहीं है। जो वस्तु सबके लिए दी गई है वह अदत्त नहीं कहलाती और इसी कारण साधु उन दरवाजोंमें प्रवेश नहीं करता जो सार्वजनिक नहीं हैं, किसी एक व्यक्तिका द्वार है अथवा बंद है उसमें प्रवेश नहीं करता। तो जिसमें दिया लिया जानेका व्यवहार है और सार्वजनिक साधारण विधि नहीं है वहाँ बिना दिएका ग्रहण करना चोरीपाप कहलाता है। यों तो कोई यह भी कह सकता है कि साधु वंदन, सामायिक आदिक शुभ क्रियायें करता है और उसके पुण्यका संचय होता है तो उस पुण्यको ग्रहण करने में भी तो बिना दिया हुआ लिया। भले ही शुभ चोरी हुई पर यह भी तो चोरी है। यह आशंका बिल्कुल बेसिर पैरकी है, क्योंकि जब एक बार बता दिया कि जहाँ देने लेने का व्यवहार होता है वहाँ ही बिना दिए हुएका ग्रहण करना चोरी है और फिर प्रमत्त योगका सम्बन्ध भी तो हो तब चोरी होती है। वंदना आदिक क्रियावोंमें सावधानीपूर्वक आचरण करने वाले साधुके प्रमत्तयोग नहीं है इसलिए चोरीका प्रसंग नहीं है। किसी पुरुषके प्रमत्तयोग हो, खोटे परिणाम हों, किसी की चोरी करनेका भाव बना लिया हो और चोरी भी न कर सके तो भी दूसरेको पीड़ाका कारण तो सोचा। वहाँ पापका आस्रव होगा ही। यहाँ कोई ऐसी भी शंका कर सकता कि कोई डाकू किसी घरपर डाका डालता है तो वह बिना मालिकके दिए हुए नहीं लेता, मालिकसे ही तिजोरी खुलवाता, उसके ही हाथसे सारा सामान निकलवाता, तो उसमें उस डाका डालने वालेको चोरीका दोष तो न लगना चाहिए। क्योंकि उसने दिया हुआ ही तो लिया? तो भाई ऐसी शंका ठीक नहीं। कारण यह है कि अभिप्रायसे मैं दे रहा हूं, मुझे देना चाहिए, ऐसा हर्ष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वाला अभिप्राय उसके कहाँ है ? तो वह दिया जाकर भी न दिया हुआ ही है। ऐसा धन ग्रहण करना भी चोरी कहलाता है। चोरीपापका लक्षण कहते हैं।

मैथुनमब्रह्म ॥७-१६॥

(१५२) **कुशील पापका लक्षण**—मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं। स्त्री-पुरुषविषयक शरीर सम्मिलन होनेपर सुखकी प्राप्तिकी इच्छासे जो रागादिक भाव होता है वह मैथुन कहलाता है। मिथुनके भावको मैथुन कहते हैं। शब्दकी व्युत्पत्ति तो यह है, पर उस का भाव यह नहीं है कि दो द्रव्य जहाँ इकट्ठे हों वह मैथुन हो गया। अर्थ यह है कि परस्पर मिलकर जो कामविषयक भाव किया जाता है वह है मैथुन। यदि दोका एक जगह रहना कुशील कहलाने लगे तो जो उदासीन वृत्तिसे घरमें रहते हैं स्त्री पुरुष, जिनके ब्रह्मचर्यका नियम है, अलग रह रहे हैं, राग भी नहीं है कामविषयक तो उनके रहने मात्रसे फिर मैथुन कह दिया जायगा, इसलिए यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि जो दोका कार्य है सो मैथुन है। मिथुनस्य कर्म मैथुनं, यह भी अर्थ नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि किसी कार्यको दो पुरुष मिलकर कर रहे हैं—दुकान करना, भोजन बनाना या कोई एक ट्रंकका दोनोंके द्वारा ले जाना तो ये दो पुरुषोंके द्वारा किए गए हैं, ये भी मैथुन कहलाने लगेंगे। इस कारण यह भी अर्थ न करना कि जो दोका काम हो सो मैथुन है। एक तीसरा यह अर्थ भी न करना कि स्त्री पुरुषका जो काम हो सो मैथुन है। दो पुरुषके किए हुए कामको मैथुन नहीं कहा किन्तु स्त्री पुरुष मिलकर कार्य करते हों वह मैथुन होता—यह भी अर्थ न करना क्योंकि अनेक कार्य ऐसे होते कि स्त्री पुरुष मिलकर कर रहे। कभी भोजन बनाना आदिक भी स्त्री पुरुष मिलकर कर रहे हैं तो क्या वह कार्य मैथुन कहलायगा ? अथवा स्त्री पुरुष दोनों किसी साधुको नमस्कार कर रहे, प्रभुकी पूजा कर रहे तो क्या ये कार्य मैथुन हो जायेंगे ? नहीं। तब यह तीसरा अर्थ भी ठीक नहीं है कि स्त्री और पुरुषका जो कार्य है सो मैथुन है, किन्तु मैथुनका अर्थ क्या है ? चारित्रमोहका उदय होनेपर स्त्री पुरुषका परस्पर शरीरसंसर्गपूर्वक सुख चाहने वाले उन दोनोंमें जो राग परिणाम होता है वह मैथुन है। सो यह तो मैथुन है ही, पर इतना ही न समझना, किन्तु एक पुरुष यदि हस्तादिक क्रियावोंसे अपने शरीरके वीर्यको खोता है तो ऐसे समयके परिणाम भी मैथुन कहलाते हैं, ऐसे किसी भी प्रकारके रागभावको कुशील परिणाम कहते हैं।

(१५३) **कामचेष्टाओंमें मैथुनत्वकी प्रसिद्धि**—कामासक्त पुरुष अकेला ही कामपिशाच के वशीभूत होकर वही दो रूप बन गया है, इस कारण चारित्रमोहके उदयसे प्रकट हुए काम पिशाचके वशीभूत होनेसे वह अकेला ही पुरुष जो कामसक्त है वह दूसरेके साथ हो गया, इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कारण भी उसकी क्रियावोंको मैथुन कह सकते हैं। यद्यपि कुशील अपने कामविषयक खोटे भावको कहते हैं, फिर भी इस कुशीलताकी प्रसिद्धि मैथुन शब्दसे यों बनी है कि लोकमें और शास्त्रोंमें उसकी प्रसिद्धि स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुई रति विशेषमें हुई। लोकमें तो चर-वाहे तक भी स्त्री और पुरुषविषयक रति कर्मको मैथुन कहा करते हैं। शास्त्रमें भी व्याकरण तकमें मैथुन शब्दका इसी भावसे प्रयोग है, इस कारण मैथुनमें कुशीलपरिणामका नाम रखा गया है। मिथुन शब्दसे प्रसिद्धि तो स्त्रीपुरुषविषयक है पर कभी दोनों पुरुषोंमें भी परस्पर काम चेष्टा हो जाती है तो वह पुरुष चारित्रमोहके तीव्र उदयसे घिरी हुई स्थितिमें है। सर्व शंकाओं का समाधान प्रमत्तयोग शब्दसे हो जाता है। जहाँ जहाँ प्रमत्तयोग है उसके कारण जो मिथुनका कर्म है, जो कामपिशाचके वश हुई चेष्टायें हैं वे सब मैथुन कहलाती हैं। यहाँ शब्द दिया है अब्रह्म। जो ब्रह्म नहीं सो अब्रह्म। ब्रह्म किसे कहते हैं ? अहिंसा आदिक गुण जिसके पालन करनेपर बढ़ें उसका नाम ब्रह्म है। आत्मशीलकी दृष्टि करनेसे अहिंसा आदिक गुणोंका विकास होता है, इस कारण शीलकी दृष्टिसे विषयोंसे विरक्त होना ब्रह्म कहलाता है, है। और जो ब्रह्म नहीं है वह अब्रह्म है। अब्रह्ममें, मैथुन प्रवृत्तिमें उसके हिंसा आदिक दोष पुष्ट होते हैं। जो मैथुन सेवन कर रहा है वह पुरुष योनिगत चराचर प्राणियोंकी हिंसा कर रहा है और वह उस रागमें झूठ भी बोलता है और इस कामकी पीड़ाके वश होकर कभी यह अदत्त वस्तुको भी ग्रहण करता है। इसके परिग्रहभाव मूर्छाभाव तो निरन्तर चलता रहता है। कामी सचेतन और अचेतन परिग्रहका ग्रहण करता है। अब्रह्म पाप एक महान पाप है, वहाँ तो अब्रह्म व्यभिचार हिंसाको भी कह सकते हैं, झूठ आदिकको भी कह सकते हैं किन्तु व्यभिचारकी प्रसिद्धि क्यों कुशील नामक चौथे पापमें हुई है कि इस कुशीलसेवन करने वालेके आत्माकी सुध होना बड़ा कठिन होता है। इस कारण कुशील आत्मशीलसे एक-दम विपरीत भाव है। यहाँ तक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील—इन चार पापोंका वर्णन किया गया, अब परिग्रहका वर्णन क्रम प्राप्त है। सो अब परिग्रहका लक्षण बतलाते हैं।

मूर्च्छा परिग्रहः ॥७-१७॥

(१५४) **परिग्रह पापका लक्षण**—मूर्छाको परिग्रह कहते हैं। किसी भी बाह्य पदार्थ का आत्मामें न लगावका सम्बंध है और न विलगावका सम्बंध है। सर्व पदार्थ स्वतंत्र स्वतंत्र अपनी सत्ता लिए हुए अवस्थित हैं और किसी भी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मामें नहीं आता। इस कारण बाह्य पदार्थोंको न यह आत्मा ग्रहण करता है और न बाह्य पदार्थ परिग्रह कहला सकते हैं। तो परिग्रह तो वह है जिसको अपने आत्मामें ग्रहण करे। आत्मा विकल्पको ग्रहण करता है इसलिए विकल्प मूर्छा यह ही परिग्रह है। बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता, फिर भी इन विकल्पोंका व्यक्तिकरण आश्रयभूत कारणमें उपयोग देकर होता है और आश्रयभूत कारण हैं चेतन अचेतन बाह्य पदार्थ, सो आश्रयभूत कारण होनेसे इसमें परिग्रहका उपचार किया गया है। वास्तवमें परिग्रह मूर्छा है। मूर्छा क्या कहलाती है ? बाह्य जो धन धान्य वैभव चेतन अचेतन पदार्थ, गाय, बैल, भैंस, पशु, बंधु आदिक और भीतरमें हैं रागादिक भाव, इनकी रक्षा, इनका उपार्जन, इनमें लगाव, इनके संस्कारके प्रति जो आत्मा का भावरूप व्यापार है, विकल्प है उसे मूर्छा कहते हैं। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि शरीरमें जो वात, पित्त, कफ नामका किसी भी दोषसे जो यह शरीरमें विकार होता, बेहोशी होती, मूर्छा तो उसे कहा करते। उस ही मूर्छाका परिग्रह कहना चाहिए। इस शंकाके उत्तर में कहते हैं। इस शारीरिक मूर्छाको मूर्छा कैसे कहा जा सकता ? मूर्छा धातु मोह अर्थमें आती है, सो बाह्य और अंतरंग उपाधिकी रक्षा आदिकके विषयमें जो कुछ विकल्प जगता है वही यहाँ मूर्छा शब्दसे लिया गया है।

(१५५) **बाह्य पदार्थमें उपचारसे परिग्रहपना**—शंकाकार कहता है कि यदि मूर्छा नाम अन्तरङ्ग विकल्पका है तो फिर धन धान्य वैभव आदिक परिग्रह न कहलायेंगे, क्योंकि मूर्छा शब्दसे आध्यात्मिक परिग्रह ग्रहण किया है। फिर बाह्य पदार्थ परिग्रह न रहेगा। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि प्रधानता तो अध्यात्मकी है, क्योंकि जीवको कष्ट अपने मूर्छाके कारण होता है। आत्माकी सुध न रहना और अटपट बाह्यविषयक विचार जगना—यह ही मूर्छा है और इस ही से आत्माको कष्ट है। यह मेरा है, इस प्रकारका जो संकल्प है वह आ-ध्यात्मिक परिग्रह है। और उसीको यहाँ कहा गया है। जब संकल्प विकल्पको परिग्रहमें ग्रहण किया गया तो इसका आश्रयभूत कारण जो बाह्य विषयभूत पदार्थ है वह अपने आप परिग्रह है। ऐसा उपचार किया जाता है। जैसे कि लोग कहने लगते कि अन्न ही वास्तवमें प्राण है, तो कहीं अन्न ही तो प्राण नहीं हो गया। प्राण तो ५ इन्द्रिय, ३ बल, १ श्वासोच्छ्-वास और १ आयु ये १० हैं। अन्य कहीं प्राण नहीं हैं। चूंकि शरीरकी स्थिति अन्नके कारण रहती है। इस कारण कर्ता कार्यका उपचार किया है सो कहा कि अन्न प्राण है। इसी प्रकार वास्तवमें मूर्छा तो अंतरंगका विकल्प है, पर इस विकल्पके आश्रयभूत कारण हैं बाह्य पदार्थ, अतः बाह्य पदार्थोंको परिग्रह कहा है और उनको ही मूर्छा शब्दसे कह सकते हैं।

(१५६) **नैमित्तिक भावोंके अपनानेमें परिग्रहपना**—अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यदि आत्मामें उठने वाले रागद्वेषादिक परिणामको परिग्रह कहते हो तो आत्मामें उठने वाले दर्शनज्ञानचारित्रको भी परिग्रह कह दीजिए, क्योंकि आध्यात्मिक परिग्रहको प्रधान कह रहे हो। तो जो ज्ञान, दर्शन, चारित्रमें यह मेरा गुण है, यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकारका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो संकल्प है उसे ही परिग्रह कहो फिर ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इस सूत्रमें प्रमत्त योग शब्दकी अनुवृत्ति लेना है, जिससे यह अर्थ निकलता कि प्रमाद कषायके सम्बन्धसे जो यह मेरा है, ऐसा संकल्प बनता है उसे मूर्छा कहते हैं, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणके सम्बंध में किसीको बेसुधी या मोह कषाय नहीं जगती। प्रमत्तरहित साधुके भी ज्ञान दर्शन चारित्रके विषयमें कोई कषाय नहीं जगती, ऐसे मोहका अभाव होनेसे उस चिन्तनमें मूर्छा नहीं कही जाती और वह परिग्रहरहित है। दूसरी बात यह है कि रागादिक भाव तो कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं सो वे रागादिक भाव पराधीन हैं, कर्मके उदयके आधीन हैं, इस कारण रागादिक भाव आत्माके स्वभाव नहीं हैं, किन्तु ज्ञानादिक भाव तो स्वयं हैं, अहेय हैं, ये त्यागे नहीं जा सकते। आत्मा स्वभावरूप है इस कारण ज्ञानादिक भावोंसे परिग्रहपना नहीं माना गया है। हाँ रागादिक भाव जो मेरे स्वरूपमें नहीं हैं, कर्मके उदयकी छाया हैं उन भावोंमें यह मेरा है—इस प्रकारका संकल्प होना यह परिग्रह कहलाता है।

(१५७) **दर्शनमोहमें निरन्तर व्याकुलता एवं दुर्गति**—यह मेरा है इस कथनमें भी दो जातियाँ हैं। एक पुरुष तो रागादिक विकारोंको आत्मस्वरूप समझकर, उनसे भिन्न न निरखकर उसीको ही मानता है कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, ऐसे दर्शन मोह वाले जीवके भी बाह्य पदार्थोंमें यह मेरा है, ऐसा ख्याल जगता है। और सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी परिस्थितिवश ऐसा कथन चलता है कि यह घर मेरा है, यह भाई मेरा है। परिग्रहपना यद्यपि दोनोंमें आया तो भी एक अज्ञानीका विकल्प है और एक ज्ञानीका विकल्प है। वास्तवमें मूर्छा अंतरंग विकार को ही कहते हैं। जीवमें जितना भी दोषका सम्बंध होता है वह परिग्रहके कारणसे होता है। जब किसी पदार्थमें यह मेरा है, ऐसा संकल्प बना तो उसकी रक्षाकी भी चिंता होती है, अनेक प्रकारके उद्यम करने पड़ते हैं और उन प्रवृत्तियोंमें हिंसा भी अवश्य होती है। और परिग्रहके लिए यह झूठ भी बोलता है, चोरी भी करता है, कुशील कर्ममें भी लगता है और पश्चात् इन कुकर्मोंके कारण नरकादिके अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, इस लिए परिग्रह इस आत्माके लिए अत्यंत अनर्थकी चीज है। जिस पुरुषको रागादिक विकारसे रहित ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप का परिचय नहीं है वह एकदम अंधेरेमें है और इस जगतमें किसी भी पदार्थपर टिक नहीं सकता, क्योंकि बाह्यपदार्थ तो अनित्य हैं, उनपर उपयोग जमेगा नहीं। जो अपना ध्रुव स्वरूप है उसका इसे परिचय नहीं तो इसका उपयोग जहाँ चल सकता है उसका तो ख्याल ही नहीं। बाहर ही बाहर भटकता रहता है।

(१५८) **ज्ञानप्रकाश प्राप्त होनेपर ज्ञानीको सर्वत्र निरापदता**—संसारमें जीवको कहीं भी दुःख नहीं है, क्योंकि इसका स्वरूप ही आनन्द है। केवल आत्मस्वरूपमें दृष्टि करे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो विदित होगा कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं, जिसका जगतमें कोई पहिचानने वाला नहीं है। जितना भी दूसरे लोग व्यवहार करते हैं मुझसे तो केवल इस शरीरको, इस पर्याय को निरखकर ही व्यवहार किया करते हैं, मेरे चैतन्यस्वरूपसे कोई व्यवहार नहीं कर सकता और न किसी पदार्थसे मेरा सम्बन्ध भी है। ऐसा विविक्त ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको दृष्टिमें लेने वाला पुरुष लोकमें उत्तम है। बाह्य धन वैभवकी तो कथा ही क्या ? यह शरीर भी मेरा स्वरूप नहीं। शरीरमें कोई चेष्टायें हो रही हैं तो उनका ज्ञाताद्रष्टा रहता है यह ज्ञानी। शरीरमें कोई रोग हो, शरीरमें कोई विकार हो तो उसका यह ज्ञाता द्रष्टा ही रहता है। उसे अपनाता नहीं कि हाय मैं क्या करूँ ? ज्ञानी पुरुषको किसी भी स्थितिमें उलझन नहीं रहती क्योंकि उसने यह समझ लिया है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूं और स्वतः ही सहज आनन्द-स्वरूप हूं। मेरेको बाह्यमें कुछ करनेको भी नहीं पड़ा है। किसी अन्य पदार्थमें मैं कुछ कर भी नहीं सकता हूं। मात्र मैं अपने आपके भाव ही किया करता हूं। फिर डर किसका ? शङ्का क्या ? विपत्ति कहाँ ? विपत्ति केवल माननेकी होती है। किसी भी स्थितिको अनिष्ट मान लिया लो विपत्ति आ गई और जब यह ज्ञान रहता है कि मेरा आत्मा परिपूर्ण है, ज्ञानमय है, आनन्दसे भरा है और यह अपने आपमें अपना परिणमन करता रहता है। हमें तो अपनेसे बाहर कुछ मतलब ही नहीं है, ऐसे अविकार स्वरूपको निरखने वालेके मूर्छा नहीं हो सकती। ज्ञानी पुरुषको तो अपने रागादिक भावोंके प्रति भी ममता नहीं है। तब फिर उसे जगतमें कष्ट ही क्या है ? जितनी भी विपत्तियाँ आती हैं वे सब इस मूर्छाके आधारपर आती हैं। यहाँ तक ५ प्रकारके व्रत कहा, पाँचों व्रतोंकी भावनायें कहीं और जिन पापोंसे विरक्त होना है उन पापोंका स्वरूप कहा, सो भावनाओंके द्वारा जिन्होंने अपना चित्त स्थिर किया है और पापोंमें अपाय विनाश देखते हैं, ऐसे विलक्षण पुरुष, विवेकी पुरुष समस्त संसारी क्रियावोंसे हट जाते हैं, उनमें उत्सुकता नहीं रहती, क्योंकि वे सब दुःखरूप हैं। तब वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, इन भावोंसे अपनेको स्वच्छ करते हुए मोक्षके प्रति अपना चित्त लगाते हैं। ऐसे पुरुषोंके व्रत हुआ करते हैं। तो वे व्रती कैसे होते हैं इसके मूल स्वरूपको कहते हुए सूत्र कहते हैं।

निःशल्यो व्रती ॥७-१८॥

(१५६) **व्रतीकी अनिवार्य विशेषता**—निशल्य व्रती होता है, व्रती निशल्य होता है। जीवकी रक्षा पापसे निवृत्त रहनेमें है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोंमें जो अपना उपयोग रखता है, धर्मकी अवहेलना करता है। चूँकि यह स्वयं भगवान आत्मा है। जानता तो सब है ही कि मैं यह खोटा काम कर रहा हूं तो उसके ज्ञानमें होनेसे उसके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानका बल घट जाता है और ज्ञानका बल घट जानेसे उसे अनेक प्रकारकी विह्वलतायें होती हैं। इससे जिसको अपने जीवनमें सुख शान्ति चाहिए और जो दृढ़तापूर्वक अपना जीवन-यापन करना चाहता हो उसका कर्तव्य है कि अपनी शक्ति अनुसार इन ५ पापोंसे विरक्त होवे। अब कोई पुरुष ५ पापोंको ऊपरसे तो छोड़ चुका। किसीकी हिंसा नहीं करता, किसी से झूठ नहीं बोलता, किसीकी चीज नहीं चुराता, किसी परनारीपर दृष्टि नहीं देता, अधिक परिग्रह नहीं रखता या परिग्रहका त्याग कर देता, फिर भी यदि उसके अन्दर कुछ शल्य है तो वह ब्रती नहीं कहला सकता। यह बात इस सूत्रमें कही जा रही है। भव्यका अर्थ है जो अनेक तरहसे प्राणि समूहको घाते, हिंसा करे, दुःखी करे, कांटेकी तरह जो चुभे उसे कहते हैं शल्य।

(१६०) **ब्रतीको मायाशल्यरहितता**—वे शल्य तीन तरहके हैं—(१) माया, (२) निदान, (३) मिथ्या। छल-कपट करना। किसीके प्रति कपटका व्यवहार करनेसे फायदा क्या, बल्कि उस कपट करने वालेको हानि है। जिस किसी दूसरेके प्रति कपट किया गया उसको हानि होना उसके पापके अनुसार है, मगर इसने जो बुरा परिणाम किया उससे तो तत्काल ज्ञानबल घट गया और ऐसा कर्मबन्ध हुआ कि जिसके उदयमें यह भविष्यमें भी दुःखी रहेगा। जिसके आत्माका ज्ञान नहीं है वही पुरुष छल कपटकी बात सोचता है। जिसको साफ विदित है कि यह जगत भिन्न है, देह भी मेरा नहीं है, मैं अमूर्त ज्ञानमय पदार्थ हूं, स्वयं सहज आनन्दमय हूं। जैसे आकाश निर्लेप है ऐसे ही मैं आत्मा अमूर्त अपने स्वरूपतः निर्लेप हूं। इसमें कोई वेदना नहीं, इस आत्मामें कोई बाधा नहीं, इस आत्माको कोई जानता नहीं। यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। ऐसा जानने वाला पुरुष अपनी ही स्वरूप दृष्टिमें मग्न रहता है। बाहरसे वह सुखकी आशा नहीं रखता। होता ही नहीं कहीं बाहरसे सुख। जितना भी सुख होता है वह आत्माका आत्माके आनन्द गुणसे होता है। जब बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है तो किसी पदार्थके संचयके लिए क्या कपट करना? जीवन मिला है, कर्म भी साथ हैं, जैसा उदय होगा वैसा सहज योग मिलता जाता है। कार्य चलता जाता है, पर किसी भी पदार्थकी तीव्र अभिलाषा रखनेमें जिसके लिए कपट करना पड़े तो उसका फल यह ही खुद भोगता है, दूसरा नहीं भोगता। जो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, ब्रती है उसके छल कपट वाला शल्य नहीं होता। यह जीव वास्तविक सद्भूत पदार्थ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनन्द आदिक अनेक गुणोंका यह समुदाय है। यदि यह सत्य ज्ञानरूप बना रहे तब तो आनन्द ही आनन्द है। और जहाँ तृष्णाका भाव आया और तृष्णाके कारणसे छल कपट करना पड़ता है तो ऐसा कपट वृत्ति रखने वाला पुरुष ब्रती नहीं हो सकता।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१६१) **व्रतीकी निदानशल्यरहितता**—दूसरा शल्य है निदान। मैं परलोकमें राजा बनूं, सेठ साहूकार बनूं या देव बनूं, इस प्रकारका भाव रखना निदान है। निदान तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष करता ही नहीं है, व्रती हो तो वह निदान करेगा ही क्यों? जिसको अपने आत्माकी खबर नहीं है वही ऐसी उड़ान लगायेगा कि मैं राजा बनूँ, देव बनूँ…क्योंकि उस अज्ञानीको यह खबर नहीं है कि ये राजा देव, सेठ आदि सब दुःखी हैं। जहां जहां अज्ञान है वहां वहां दुःख है। उन दुःखोंकी रीति भिन्न भिन्न है। सेठ लोग और तरहसे दुःख महसूस कर रहे हैं, उनके पास धन वैभव है तो इसकी रक्षा कैसे हो, यह बिगड़ रहा है। इतना नुक्सान हो रहा है, यों न जाने कितने-कितने विकल्प करके दुःखी रहते हैं? निर्धन लोग निर्धनतासे दुःखी रहते हैं, चैनसे नहीं बैठ सकते। तो ये सब संसारके जितने रूपक होते। चाहे सेठ हो, चाहे राजा हो, चाहे मिनिस्टर हो, चाहे राष्ट्रपति हो, जो भी है वह निरन्तर दुःखसे पीड़ित रहता है। हां मोहके कारण वे अपनी पीड़ा ऐसी नहीं महसूस करते कि मैं दुःखी हूं, अपनेको कल्पनासे मानते कि मैं सुखी हूं, पर हैं वे दुःखी। वास्तविक विवेकी तो वह है जो ऐसा उपाय बनावे कि संसारके संकट सदाके लिए मिट जायें। प्रथम तो यह जानना कि इस शरीरका सम्बंध ही सारे दुःखोंकी जड़ है। शरीरका सम्बंध न हो, केवल आत्मा ही आत्मा हो तो वह तो उसमें मग्न है, पर शरीरका सम्बंध होनेसे कितनी ही बाधायें होती हैं। रोगकी बाधा, सम्मान अपमानकी बाधा, और और भी अनेक बाधायें हैं। खाली आत्मा हो तो वह क्या सोचेगा कि मेरी कीर्ति बढ़े, पर यह शरीर साथ लगा है और यह ही लोगोंकी दृष्टिमें है तो उसे निरखकर निरंतर यह विकल्प बनाये रहते हैं कि मेरा यश फैले, नाम हो, प्रशंसा हो। यह सब चक्र इस शरीरका सम्बंध होनेसे लगा है।

(१६२) **आत्माकी परसे अबाधितता**—भैया, तो यह जानें कि यह शरीर मेरेसे बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। मैं आत्मा अपनी सत्ता लिए हुए हूं। मेरे आत्माको किसी अन्य पदार्थ से कभी बाधा हो ही नहीं सकती। जितनी बाधाके जितने कष्ट लोग मानते हैं वे अपने आप में अपने विचार, अपने विकल्प बनानेके दुःख हैं। बाहरी पदार्थोंसे कष्ट किसी जीवको होता ही नहीं है, कैसे हो? जैसे आकाशमें आग लगायी जा सकती है क्या? कभी नहीं लगायी जा सकती। अमूर्त है वह तो ऐसे ही इस आत्मामें कोई कष्ट दे सकता क्या कि इसमें कोई कील ठोक दे या इसे कोई पीट दे, या इसे कोई छुड़ा दे या इसे कोई दाब दे? कुछ भी नहीं किया जा सकता। यह आत्मा अपनेमें पूर्ण सुरक्षित है लेकिन यही खुद अपनेमें ज्ञानविकल्पकी तरंग उठाकर अपनी ही करतूतसे, अपने ही मानसिक विचारसे, वासनासे, कुबुद्धिसे अपने आपको दुःखी करता रहता है। इसको दुःखी करने वाला कोई अन्य पदार्थ हो ही नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकता कभी। यह श्रद्धान जिसके नहीं है वह पद-पदपर कुछसे कुछ सोच-सोचकर दुःखी होता रहता है, ऐसे ही अज्ञानी पुरुष कभी जान ले कि परलोक है तो वह उसका निदान किया करता है—मैं राजा बनूँगा, मैं देव बनूँगा ? अरे सोच तो यह सोच कि मैं आत्मा केवल आत्मा रह जाऊँ, जिसके साथ अन्य कोई सम्पर्क न रहे, बस मैं यह चाहता हूं। इसको तो अन्य कुछ चाहिए ही नहीं, क्योंकि परका सम्बन्ध बनाना कलंक है, कष्ट है।

(१६३) **आत्माके परिपूर्ण स्वरूपास्तित्वके परिचयमें निःशल्यता**—जब यह आत्मा स्वयं परिपूर्ण अस्तित्वमें है, जब यह अनन्त ज्ञानानन्दमें रचा हुआ है तो इसको जरूरत क्या है पर पदार्थकी ? किसी भी पदार्थकी सत्ता अधूरी नही होती है। जो है वह पूरा है। जैसे किसी मकानकी अभी छत नहीं पड़पाटी तो लोग कहने लगते कि अभी तो यह अधूरा है, पर मकान तो कोई वस्तु ही नहीं है ? वस्तु कोई भी अधूरी नहीं होती। क्या है ? परमाणु। वस्तु क्या है ? जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल एक एक जो परमाणु है वह है वस्तु। तो कोई वस्तु अधूरी हो तो बताओ ? कोई वस्तु आधा "है" बने और आधा "है" न बने ऐसा है नहीं। "है" आधा है ऐसा भी नहीं हो सकता और "है" आधा नहीं है ऐसा भी नहीं हो सकता। जो भी है वह पूरा है। मैं हूं सो पूरा हूं, परिपूर्ण हूं। तो जब मैं अधूरा होता ही नहीं तो मेरेको फिर क्या पड़ा है बाहर कि जिसके लिए माया करें, निदान बाँधें। ज्ञानी जीव निदान नहीं बांधते। वास्तविक तथ्यका ज्ञान होना यह बड़े ऊँचे भवितव्यकी बात है। संसारमें सुख दुःख है, पुण्य पाप है, वैभव मिलता है, सब कुछ ठीक है मगर शान्तिका आधार तो ज्ञान है। शान्तिका आधार वैभव नहीं। अगर शान्तिका आधार वैभव होता तो तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अपने इस वैभवको तजकर क्यों जाते ? यहाँ तो यह सोच लेते कि हमारे निकटका पुद्गलस्कन्ध अगर कुछ कम हो गया तो मेरा बड़ा नुक्सान है और वे बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती सब कुछ त्यागकर भी अपने आत्मामें संतुष्ट रहा करते थे। मार्ग यह है, करना कुछ पड़े, मगर सच्चा ज्ञान रहेगा दृष्टिमें तब ही हम पार हो पायेंगे। अगर सम्यग्ज्ञान नहीं है अपने उपयोगमें तो चाहे कुछसे भी कुछ मिल जाय, सांसारिक विभूति, समृद्धि कितनी भी हो जाय मगर पार नहीं हो सकते। सिद्ध भगवन्तका स्वरूप कैसे निरखा जाता ? अब जैसे कि सिद्ध भगवान अकेले हैं, केवल आत्मा हैं, शुद्ध है, ऐसे ही केवल आत्मा मैं अभी यहाँ हूं सबसे निराला केवल अपना ही अस्तित्व रखने वाला, यह मैं आत्मा अब भी अकेला ही हूं, अपने ही इस सत्त्वसे हूं। दुकेला होना तो खराब है, पाप है, संसार है, कष्ट है।

(१६४) **आत्माका सच्चा आराम**—अपनेको अकेला बिचारें, जैसा कि अपना खुद

http://sahjanandvarnishastra.org/

में स्वरूप है तो धीरता जगेगी, ज्ञानबल बढ़ेगा, शान्ति मिलेगी। ऐसा जीवनमें अगर रोज रोज १०-५ मिनट आत्माके स्वरूपका ध्यान न किया जाय तो यह जीवल किस लिए बिताया जा रहा है ? उत्तर तो दीजिए। जीवन बेकार है। यदि आत्माकी सुधका कोई उपाय नहीं बनाया जा रहा तो २४ घंटेमें १०--१५ मिनट तो ध्यान आना चाहिए कि मैं सारे जगतसे निराला हूं। जैसे कोई मजदूर दिन भरसे तेज परिश्रम करके आखिर आधा पौन घंटा काम छोड़कर, विकल्प छोड़कर, पैर पसारकर, ढीला ढाला पड़कर आराम तो कर लेता है तो ऐसे ही दिन रात विकल्प करके, विकल्पका परिश्रम करके, अपने आत्माको व्यथित करके जो एक थकान होती है, बेचैनी होती है तो भाई इन २४ घंटोंमें १०–१५ मिनटको तो सारे विकल्प छोड़ कर, अपने शरीरको ढीला ढाला छोड़कर, उपयोगमें आत्मस्वरूपको निहार कर आराम तो कर। सच्चा आराम गद्दे में पड़नेमें नहीं है, सच्चा आराम सारे जगतसे निराले अपने ज्ञान मात्र परमात्मस्वरूपकी दृष्टि करने और यहां ही ज्ञानको बनाये रहनेमें है। जिसके शल्य लगी है वह बड़े कोमल गद्देमें भी पड़ा हो तो भी क्या उसे चैन मिलती है ? अरे वह तो बेचैन रहता है। और जो निःशल्य है, जिसको आत्माका ज्ञानप्रकाश मिला है वह कूड़ेमें पड़ा हो तो भी सुखी रहता है। तो जो निःशल्य हो वही व्रती बन सकता है। शल्यवान पुरुष व्रती नहीं कहला सकता।

(१६५) **व्रतीकी मिथ्याशल्यरहितता**—तीसरा शल्य है मिथ्याभाव। पदार्थ अन्य प्रकार है, मान्यता अन्य प्रकार बन रही है, यह कहलाता है मिथ्यात्व। जगतके जितने पदार्थ हैं वे सब भिन्न हैं, विनाशीक हैं, पर यह अज्ञानी मानता है कि जो मेरा वैभव है वह भिन्न कहाँ है ? वह तो मेरा खास है। मकान, दूकान, कारखाना, पैसा ये सब जो कुछ मिले हैं सब मेरेसे कहाँ बिछुड़े हैं, मेरे ही तो हैं। ये किसी दूसरेके कैसे हो सकते ? ऐसी जो श्रद्धा बनी है यह है मिथ्यात्व। ये सर्व पदार्थ विनाशीक हैं, औरोंके लिए तो विनाशीक समझमें आते हैं, ऐसा समझते कि जो मिले हैं सो नष्ट हो जायेंगे, पर खुदको जो प्राप्त हुआ है उसके बारेमें यह श्रद्धा नहीं बनती कि यह भी नष्ट हो जायगा। मुखसे कहना और बात है, भीतर में भावभासना होना और बात है। यह है मिथ्याभाव। मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानका दुश्मन है। उसे ज्ञानकी कोई चीज भाती ही नहीं, उसे ज्ञानोपदेश न रुचेगा, ज्ञानका स्थान न रुचेगा, ज्ञानका कोई कार्यक्रम रुचेगा ही नहीं। उसे तो ये बाह्य ढेला पत्थर ही कुछ हैं, क्योंकि अज्ञान छाया है, मिथ्यात्वका पिशाच चढ़ा है। यह मिथ्यादर्शन बहुत बड़ा शल्य है। जिसके मिथ्यात्व है वह व्रती नहीं हो सकता। अब कुछ सयुक्तिक चर्चा सुनिये–सूत्रमें दो बातें कही गईं—(१) जो निःशल्य है सो व्रती है—तो एक शंकाकार कहता है कि यह तो कोई तुक न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिली कि निःशल्य व्रती कहलाता है। जो निःशल्य है सो तो निःशल्य कहलायगा, व्रती कैसे ? और जो व्रती है सो व्रती कहलायगा, वह निःशल्य कैसे कहलायगा ? निःशल्यको व्रती कहना यह तो बेतुकी बात है। जो डंडा पकड़े हो सो डंडा वाला कहलायगा, वह छतरी वाला कैसे अथवा पुस्तक वाला कैसे ? ऐसे ही निःशल्य और व्रतीकी बात है। निःशल्यकी बात और है, व्रतीकी बात और है। इस शंकाका उत्तर यह है कि निःशल्य शब्दका अर्थ निःशल्य है, व्रती नहीं है और व्रती शब्दका अर्थ व्रती है निःशल्य नहीं यह शब्दार्थ पदार्थ तो ठीक है, किन्तु इन दोनोंमें कार्यकारण भाव है। जो निःशल्य होगा वही व्रती हो सकता है, दूसरा नहीं। जिसके शल्य है वह व्रती नहीं है। यह बात यहाँ कही जा रही है।

(१६६) **सशल्यसे निःशल्य होनेका एक उदाहरण**—सशल्य व निःशल्य होनेमें पुष्पडाल मुनिका एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है। पुष्पडाल जब गृहस्थावस्थामें थे तो उनके यहाँ एक दिन उनके गृहस्थकालके मित्र वारिषेण मुनिका आहार हुआ। वारिषेण मुनि भी उसी नगरीके थे। मुनि अवस्थामें जंगलोंमें रहते थे। सो आहार करनेके बाद जब जंगल जाने लगे तो पुष्पडाल उन्हें पहुंचाने गए। धीरे धीरे करीब १ मील जगह तय कर गए, पर न तो पुष्पडालने लौटनेकी बात कही और न वारिषेण महाराजने वापिस होनेकी बात कही। पुष्पडाल किन शब्दोंमें कहें कि हम वापिस लौटना चाहते ? कुछ समझमें न आया सो एक तालाबको देखकर बोले—महाराज यह वही तालाब है जहाँ बचपनमें हम आप स्नान किया करते थे। यहांसे नगर करीब १ मील दूर है। तो इसका अर्थ यह था कि मैं एक मील तक पहुंचाने आ गया हूं और वापिस लौटनेकी बात महाराजश्री बोल दें। इतनेपर भी जब न बोले तो कुछ आगे चलकर एक बगीचेको देखकर बोले—महाराज यह वही बगीचा है जहाँ बचपनमें हम आप खेलने आया करते थे। यह नगरसे करीब २ मील है इसका भी अर्थ वही था कि अब हम दो मील तक पहुंचाने आ गए, वापिस होनेकी आज्ञा दें, पर वारिषेण महाराजने वापिस लौटनेकी कुछ बात न कहा। कुछ दूर और गए तो वह जंगल भी मिल गया जिसमें वह मुनिराज रह रहे थे। वहाँसे भी वापिस लौटनेकी बात न कही। कुछ प्रसंग पाकर भाव उमड़े और वहीं पुष्पडाल भी मुनि बन गए। अब बन तो गए मुनि, पर उनको यह शल्य बराबर बना रहा कि मैं अपनी स्त्रीसे बताकर भी नहीं आया, पता नहीं हमारी उस स्त्रीका क्या हाल होगा ? सुनते हैं कि उनकी स्त्री कानी भी थी, पर उसीकी याद बराबर बनी रही। आखिर वारिषेण महाराजने पुष्पडालके मनकी सब बात समझ ली और कहा तो कुछ नहीं, पर एक उपाय रचा पुष्पडालका शल्य निकालनेका, क्या, कि वारिषेण महाराजने अपनी माताके पास खबर भेजी कि कलके दिन दोपहरमें हम घर आवेंगे, आप सभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रानियोंको खूब सजाकर रखना। यह समाचार पाकर वह माता बड़ी हैरान हुई। सोचा कि क्या दुर्बुद्धि छा गई मेरे बेटेमें जो घर आना बिचारा। कुछ सोचकर मन ही मन—अच्छा देखा जायगा। दूसरे दिन उस माताने सभी रानियोंको खूब सजा दिया, (शायद ३२ रानियाँ थीं) और दो सिंहासन पास ही पास रख दिये, एक स्वर्णका और एक काठका इस ख्यालसे कि अगर बेटेके मनमें कुबुद्धि गई होगी तो स्वर्णके सिंहासनपर बैठ जायगा और यदि कोई और बात होगी तो काठके सिंहासनपर बैठ जायगा। आखिर हुआ क्या कि जब पहुंचे वारिषेण महाराज और पुष्पडाल तो वारिषेण महाराज तो काष्ठासनपर बैठ गये और पुष्पडालको सुवर्णासनपर बैठा दिया। पुष्पडाल वहांका सारा ठाठ देखकर दंग रह गए। इस विचारधारामें पड़ गए कि अरे ऐसी ऐसी सुन्दर ३२ रानियां, ऐसा ऐसा ठाठ छोड़कर ये मुनि हुए और यह मैं एक कानी स्त्रीका इतना ख्याल बनाये रहता, धिक्कार है मेरे जीवन को। बस क्या था ? ज्ञान जग गया, वह शल्य दूर हो गया जो उनकी आत्मसाधनामें बाधक बन रहा था। वारिषेण महाराज तो ऐसा चाहते ही थे जिससे इस प्रकारका उपाय रचा था। जब पुष्पडाल मुनिका वह शल्य निकला तब धर्मध्यानमें उनका चित्त जमा।

(१६७) **निःशल्य पुरुषके ही व्रताधिकारपना**—यहाँ कह रहे थे कि जहाँ शल्य है वहाँ व्रत नहीं, जो व्रती है उसमें शल्य नहीं। बाहरमें दृष्टि डालकर देख लो, शान्ति कहीं बाहरसे न मिलेगी। शान्ति मिलेगी अपने आपके अन्तःस्वरूपमें बसे हुए ज्ञानानन्द स्वभावमें। तन्मात्र ही अपने आपको भापें तो उद्धार है, अन्य किसी बातसे इस जीवका उद्धार नहीं। जरा ध्यान देकर कुछ सोचो तो सही कि आज हम आप कितनी श्रेष्ठ स्थितिमें हैं—मनुष्यपर्याय मिली, श्रेष्ठ कुल मिला, सब श्रेष्ठ समागम मिले, सब प्रकारके आरामके साधन मिले, धर्मका कुछ सिलसिला भी चल चल रहा है। ऐसे सब प्रसंगोंको पाकर अब इस मानवजीवनको व्यर्थ नहीं खोना है, अपने लिए कोई हितका उपाय बनाना है। वैसे तो बहुतसे लोग रोज रोज मंदिर भी आते, धर्मस्थानोंकी भी बड़ी बड़ी व्यवस्थायें करते, लोग भी धर्मात्मा समझते, पर कोई इसका सही निर्णय नहीं दे सकता कि हाँ वह वास्तवमें धर्म कर रहा है। पता नहीं, ये सब कुछ धार्मिक क्रियाकाण्ड करके भी उसे अपनी इज्जत प्रतिष्ठाकी मनमें चाह हो। तो बताओ कहाँ रहा वह धर्म ? एक बाहरी दिखावा भरका धर्म रहा। इस जगतमें सब एक दूसरेकी झूठी प्रशंसा करते हैं, गल्ती करते हुए भी अपनी गल्ती नहीं महसूस करते। कुछ धर्म कार्य करके अपनेको मानते कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूं और इसके फलमें मुझे मोक्ष मिलेगा, मगर यह सब उनकी भूल है। जिसको अपने आत्माके सहज स्वरूपका बोध नहीं है, मेरी क्या परिणति है, क्या स्वरूप है और क्या धर्म है ? उसे धर्ममार्ग रंच मात्र भी नहीं मिल सकता। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कहनेका तात्पर्य यह है कि इतना तो कष्ट कर रहे, साथ ही थोड़ा यदि ज्ञानकी बात और जान लें, प्रकाश पालें तो इनका यह सारा उद्यम भी इनको हितमार्गमें बढ़नेके लिए सहयोगी बन जायगा। परमात्मस्वरूपका बोध हुए बिना किसीको धर्ममार्ग मिल नहीं सकता, इससे आत्मा को जाननेके लिए चाहे अपना सर्वस्व अर्पित करना पड़े, फिर भी अर्पण करनेको तैयार रहें। तो जो आत्मज्ञानी हैं वे नि:शल्य हैं और जो नि:शल्य है सो ही व्रती है। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि व्रतीके विषयमें जो वर्णन किया है कि वे तीन शल्यसे रहित होना, हिंसा आदिक पापोंके अभावसे अहिंसा आदिकमें परिणाम बढ़ना, परिग्रहसे निरपेक्ष होना, समस्त आगार अर्थात् घरके सम्बंधको तजना सो वही व्रती कहलाता है या और कोई गृहस्थ भी व्रती हो सकता है, इस जिज्ञासाके समाधानमें कहते हैं कि इन हिंसा आदिक पापोंकी विरतिके एकदेश और सर्वदेशके भेदसे ये व्रती दो प्रकारके कहे गये हैं—उनमें एक गृहस्थ हैं और एक मुनि हैं। इसी बातको इस सूत्रमें कहते हैं।

अगार्यनगारश्च ॥७-१६॥

(१६८) **भावागार होने न होनेके आधारपर व्रतीके भेद**—व्रती दो प्रकारके—गृहस्थ और मुनि। गृहस्थको यहाँ अगारी कहा गया है। अगारका अर्थ है घर। अगारका घर अर्थ कैसे निकला? तो अगार शब्द बना है अङ्ग् धातुसे। आश्रय चाहने वाले मुनिके द्वारा जो ग्रहण किया जाय, अंगीकार किया जाय उसे आगार कहते हैं। वह है घर। और जिसके अगार नहीं है उसे अनगार कहते हैं। यहाँ एक शंका होती है कि जिसके घर हो, जो घरमें रहता हो वह गृहस्थ है। जो घरमें नहीं रहता वह मुनि है, ऐसा नियम बनानेसे तो दोष आयगा। कैसा? यदि कोई गृहस्थ किसी कारणसे जंगलमें चला गया तो वहाँ वह घररहित है तब तो उसे मुनि कहना चाहिए। अथवा कोई मुनि धर्मशालामें, मंदिरमें या किसी घरमें निवास करे तो उसे गृहस्थ कहना चाहिये। तो यह नियम तो न बना कि जिसके घर हो वह गृहस्थ है। जो घरमें नहीं है वह मुनि है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ अगार का अर्थ भींत वाला घर न लेना, किन्तु भावका अगार लेना। जिसके भावमें घर बसा है उसे कहते हैं गृहस्थ, अगारी और जिसके भावमें घर नहीं बसा उसे कहते हैं अनगार। चारित्रमोहका उदय होनेपर घरके सम्बन्धके प्रति जिसका परिणाम नहीं निवृत्त हुआ, घरसे जो नहीं हट सकता ऐसा पुरुष तो अगारी है। वह चाहे किसी कारणसे वनमें भी चला जाय अथवा कुछ धार्मिक भी हो, जिसको विषयोंमें तृष्णा लगी है वह जंगलमें चला जाय तो भी अभी घरसे उसका परिणाम हटा नहीं है, संस्कार मिटा नहीं है। अभिप्रायपूर्वक दृढ़तापूर्वक उसका अलग होनेका निर्णय नहीं है, इसलिए वह अगारी है और जिसके अगार नहीं अर्थात्

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भावमें घर नहीं उसे अनगार कहते हैं।

(१६९) **एकदेश व्रत पालन करनेपर भी व्रतित्वका उपदेश**—अब एक शंका और होती है कि जो गृहस्थ व्रती है उसके समस्त व्रत नहीं हैं। जब समस्त व्रत नहीं हैं तो उसको अव्रती कहना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ व्रतीका कथन नैगम, संग्रह और व्यवहाररूपसे है। जैसे कि कोई नगरके किसी एक कोनेमें रहता है और उससे पूछा जाय कि तुम कहाँ रहते हो? तो वह कहता है कि नगरमें रहते। अब नगर तो है कोई मील दो मील भरका, उस सबमें कहाँ रहेगा कोई? तो नगरके एकदेशमें रहनेपर भी जैसे उसे नगरवासी कहते हैं इसी प्रकार समस्त व्रत न होनेपर भी कुछ नियम किये तो भी वह व्रती कहलाता है अथवा जैसे कोई ३२ हजार नगरोंका अधिपति है तो वह सार्वभौम राजा है। और यदि कोई एक देशका ही पति है, राजा है तो क्या वह राजा नहीं कहलाता? अर्थात् कहलाता। इसी प्रकार १८ हजार शील और ८४ लाख उत्तर गुणका जो धारी है वह तो अनगार है, महाव्रती है, पर संयमासंयम गृहस्थ भी अणुव्रतधारी होनेसे क्या व्रती नहीं कहलाता? कहलाता ही है। इस सूत्रमें यह बताते कि जिसके भावघर है वह गृहस्थ है और जिसके भावघर नहीं है वह मुनि है। अब अगारीका लक्षण कहते हैं—

अणुव्रतोऽगारी ॥७-२०॥

(१७०) **व्रतित्वकी दृष्टिसे अगारीका स्वरूप**—जिसके अणुव्रत है वह अगारी होता है, गृहस्थ श्रावक कहलाता है। व्रतोंमें अणुपना कैसा, जिससे कि अणुव्रत नाम कहलाये? उत्तर—समस्त सावद्यसे वह हटा नहीं है, इस कारण उसके व्रतको अणु कहते हैं। पूरा पापसे न हटनेके कारण उसके व्रतका नाम अणु है। तब फिर यह किससे हटा हुआ है? यदि समस्त पापोंसे नहीं हटा तो किससे हटा है। उत्तर—दो इन्द्रिय आदिक जीवोंकी हिंसासे निवृत्त हुआ है मनसे, वचनसे, कायसे। अब यह ज्ञानी जीव दो इन्द्रिय आदिक जंगम प्राणी का घात नहीं करता, घातसे निवृत्त हो गया। उसका अहिंसक अभिप्राय बन गया, नियम हो गया। यह तो अहिंसाविषयक अणुव्रत है। और सत्यविषयक अणुव्रत क्या है गृहस्थके कि स्नेहके, द्वेषके, मोहके उद्रेकसे जो असत्य कथन होता है उस असत्य कथनसे निवृत्त हो गया, ऐसी असत्य वाणीसे उसका आदर नहीं रहा तो वह लक्षणीय असत्याणुव्रतका धारी है। तीसरा व्रत हैं अचौर्याणुव्रत। दूसरे पुरुषोंको पीड़ा पहुंची हो या राजाका भय हो या किसी कारणसे उसे छोड़ना ही सोचा हो कि इस चीजको छोड़ना ही चाहिए, किसी तरह छूट गया हो या किसीके भूलसे गिर गया हो तो वह अदत्त है, किसीका दिया हुआ तो नहीं है। तो ऐसे अदत्त धनके प्रति आदर न रहना सो यह अचौर्याणु व्रत है। ब्रह्मचर्याणु व्रत—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विवाहित या जिसके साथ विवाह न हुआ हो ऐसे अन्य स्त्रियोंके संगसे विरक्त रहना यह ब्रह्मचर्याणुव्रत है। ५ वां अणुव्रत है परिग्रहपरिमाणुव्रत। धन धान्य खेत आदिककी जितनी अपनी इच्छासे सीमा ले ली है उस सीमाको न तोड़ना और उस परिमाण किए हुए वैभवमें ही अपना निर्वाह करना यह ५वाँ परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। इस प्रकार जिसके ये ५ अणुव्रत पाये जाते हैं वह अगारी है, गृहस्थ श्रावक है। अब जिज्ञासा होती है कि जो ५ पापोसे विरक्ति बतायी गई है, जिसने ऐसी स्थूल विरति पायी है उस श्रावकके क्या इतनी ही विशेषता है या अन्य भी कुछ विशेषता है? अन्य विशेषता अर्थात् शील बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ ७-२१ ॥

(१७१) **दिग्व्रत और देशव्रतका निर्देश**—वह अणुव्रती गृहस्थ श्रावक ७ शीलोंसे सम्पन्न होता है। तीन गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत इनका नाम शील कहलाता है, क्योंकि इन ७ व्रतोंमें प्रथम तीन तो हैं गुणव्रत। गुणव्रत उसे कहते हैं जो व्रतीके गुणोंकी वृद्धिमें उपकारक हो। वे तीन हैं—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत और (३) अनर्थदण्ड व्रत। पाप आरम्भके त्यागके लिए जीवनपर्यन्त दिशावोंमें सीमा रख लेना, उससे बाहर आना, जाना आदिक सम्बंध न रखना सो अहिंसा दिग्व्रत है। दिशायें कहते हैं आकाशके प्रदेशोंको। उस ओरके आकाशप्रदेश जहाँसे सूर्य निकलता है उसे कहते हैं पूर्व दिशा। और, वह सूर्य गोल घूमकर उसके सीधमें पहुंच जाय तो उसे पश्चिम दिशा कहते हैं। जितना पूर्व और पश्चिमके बीच है वह कहलाता दक्षिण और जितना पश्चिम और पूर्वके बीच हो वह कहलाता उत्तर। तो सर्व दिशावोंमें आजीवन व्यापार आदिकका नियम कर लेना कि इससे बाहर मेरा सम्बंध न रहेगा, यह हुआ दिग्व्रत। देशव्रत–दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर और थोड़ा क्षेत्र, थोड़े समयके लिए करनेपर देशव्रत कहलाता है। जिसमें यह भाव होता है कि मैं इतने समय तक इससे बाहर आने जानेका सम्बंध न रखूंगा। तो इसे कहते हैं देशव्रत। दिग्व्रत और देशव्रतमें जितनी सीमा रखी है उस व्रतके समय उस सीमाके बाहर वह पापसे रहित है।

(१७२) **अनर्थदण्डविरतिके लक्षण व प्रकार**—अनर्थदण्डव्रत अनर्थमें अर्थात् अपना कोई काम नहीं है, अपना कोई भला नहीं होना है, उपकार नहीं होना है, फिर भी पापके साधनोंसे सम्बन्ध करना, प्रयोग करना सो अनर्थ दण्ड है। इन सबसे विरक्त होना सो व्रत कहलाता है। इस सूत्रमें विरति शब्द पूर्वमें कहनेसे शब्दके साथ लगेगा। जैसे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति। समस्त अनर्थदण्डोंके साथ विरति शब्दका प्रयोग होगा। यहाँ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शंकाकार कहता है कि ७ वें अध्यायके इस पूर्व प्रकरणमें सब जगह प्रथम सूत्रमें कहे गए विरति शब्दकी अनुवृत्ति ली जायगी। सो विरतिकी अनवृत्ति होनेसे अपने आप विरति सिद्ध हो गया। फिर इस २१ वें सूत्रमें विरति शब्द रखनेकी जरूरत नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि सूत्रमें विरति शब्द न दें तो यहाँ किस किसके साथ विरति शब्द लगाना चाहिए? यह अर्थ न मिलेगा। उसका अर्थ सामान्यविरति होगा और यहाँ विरति शब्द देनेसे सबमें नाम बन जाता है—जैसे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति। अनर्थदंड ५ तरहके होते हैं—(१) अपध्यान, (२) पापोपदेश, (३) प्रमादचर्या, (४) हिंसादान और (५) दुश्रुति। दूसरे जीवका जय पराजय सोचना, किसीके बध बंधका विचार करना, किसी का कोई अंग छेदना, किसीका धन हरना अपध्यान नामका अनर्थदंड है, क्योंकि ऐसा विचार करने वाले पुरुषको इस विचारसे क्या लाभ होता? दूसरेका बुरा विचारनेसे इस आत्मा को क्या लाभ होता, चाहे कितनी ही किसी ने बाधा दी हो, फिर भी उसका बुरा विचारना ठीक नहीं है, क्योंकि बुरा विचारनेसे उसका बुरा न होगा, बल्कि स्वयंका परिणाम मलिन करनेसे स्वयंके परिणामसे स्वयंका बिगाड़ होगा। तो किसीका भी बुरा न विचारना यह है अपध्यान अनर्थदण्डविरति। पापका उपदेश न करना। जैसे इस देशमें पशुको खरीदकर अमुक जगह जाकर बेचा जाय तो वह लाभ देता है, ऐसे पापयुक्त वचन बोलनेको पापोपदेश कहते हैं। हिंसादान—किसी शिकारी जाल वालेको यह कहना कि इस बनमें पक्षी बहुत हैं। इस बनमें हिरण आदिक रहते हैं, ये वचन पापोपदेश हैं, क्योंकि उसका प्रयोग तो शिकारी लोग उसका बध करनेसे मानेंगे, इसी प्रकार खेती आदिकके प्रयोगात्मक युक्तियाँ बताना, इस तरह खोदना, इस तरह जलाना, इस तरह अग्नि लगाना आदिकके आरम्भ इन उपायोंसे करना चाहिए, यह कहना आरम्भिक उपदेश है। प्रमादचर्या– कुछ प्रयोजन नहीं है फिर भी वृक्षादिकको छेदना, भूमिको कूटना, पानी बखेरना आदिक सावद्यकर्म प्रमादचर्या कहलाते हैं। हिंसादान–जैसे शस्त्र, अग्नि, बरछी, ढाल, तलवार आदिक जो जो भी हिंसाके उपकरण हैं उनको देना हिंसा दान है। दुश्रुति—हिंसामें राग बढ़ाना, दुष्ट कथावोंको सुनाना, खोटी शिक्षा करना आदिक व्यापारोंको अशुभ दुश्रुति कहते हैं। ऐसे इन ५ अनर्थदंडोंसे वचना अनर्थदंडविरति कहलाता है।

(१७३) सामायिक एवं प्रोषधोपवास नामके शिक्षा व्रतोंका निर्देश—उक्त कथनमें तीन गुणव्रतका स्वरूप सुना, अब शिक्षाव्रतोंका स्वरूप सुनिये—सामायिक नाम है समता परिणामका। नियत देशमें नियतकाल तक प्रतिज्ञा की हुई सामायिकमें रहकर अविकार आत्मस्वरूपके अनुभवका पौरुष करना सामायिक है। जैसे दिग्व्रतमें मर्यादाके बाहर न चलने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

से वह श्रावक सीमाबाह्य क्षेत्रके प्रति महाव्रतीका तरह है, देशविरतमें क्षेत्रमर्यादाके बाहर गृहस्थ महाव्रतीकी तरह है, ऐसे ही सामायिकमें आत्माभिमुखताके समयमें वह महाव्रतीकी तरह है, पर दिग्व्रती देशव्रती व सामायिक शिक्षाव्रती श्रावक वस्तुतः कहीं महाव्रती न कह-लायगा, संयमी न कहलायगा, क्योंकि संयमका घात करने वाले कर्मका उदय उसके चल रहा है, फिर भी महाव्रत जो कहा जाता है वह उपचारसे कहा जाता है। हिंसा आदिक बाह्य क्रियावोंमें जिसकी बुद्धि आसक्त नहीं है किन्तु अंतरंगमें संयमका घात करने वाले कर्मोंका उदय होनेसे सर्वदेशसे विरति नहीं हैं तो भी जितने देशमें, जितने कालमें वह इस आरम्भमें रहता है उससे बाहरके देशकालमें निराम्भ होनेसे उसके महाव्रतका उपचार किया जाता है तभी तो भाव महाव्रतोंकी अन्तःस्थिति न होने पर भी निरतिचार द्रव्य महाव्रतके धारी, निर्ग्रन्थलिङ्गधारी कोई अभव्य पुरुष भी हो, उसके ११ अंगका अध्ययन हो जाता है, महाव्रत का पालन भी हो जाता है फिर वह नवग्रैवयक तक उत्पन्न भी होता है। उपवास कहते हैं अपने धर्मध्यानके लिए आत्माके लक्ष्य पूर्वक रहनेको। उपवास शरीरका संस्कार नहीं होता, शृंगार भी नहीं होता, स्नान भी नहीं होता, आभरण पहिनना आदिक भी नहीं होता, तो ऐसी स्थितिमें यह श्रावक साधुवोंके निवास क्षेत्रमें रहकर, चैत्यालयमें रहकर या अपने ही घरमें जो एक अलग स्थान बनाया है, जिसमें धर्मध्यान किया जानेका संकल्प है वहाँ बैठकर, रह-कर, धर्मकथायें सुनकर, चिंतनकर जिसका मन पवित्र हो गया, ऐसा पवित्र चित्त होकर अपने आत्माके निकट निवास करे वह निरारम्भ श्रावक वृत्ति है—यह कहलाता है उपवास। उप मायने निकट वास मायने रहना। प्रोषध एकाशनको कहते हैं, प्रोषधपूर्वक व प्रोषधपरक उप-वासको प्रोषधोपवास कहते हैं।

(१७४) **शुभास्रवके प्रकारणमें मोक्षमार्गपात्रतानुकूली अणुव्रतोंका वर्णन**—इस सप्तम अध्यायमें आस्रवका प्रकरण है। किस भावकर्मसे किस द्रव्यकर्मका आस्रव होता है यह बात तत्त्वार्थ सूत्रके छठवें और ७वें अध्यायमें कही गई है। छठवें अध्यायमें आस्रवका सामान्य वर्णन था। यहाँ पुण्यास्रवका वर्णन चल रहा है। व्रत करनेसे कर्मनिर्जरा नहीं किन्तु पुण्यका आस्रव है और शुद्ध आत्माका ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यद्यपि जो व्रत करता है उसके भी शुद्ध ध्यान कुछ-कुछ साथ है और अंतरंगमें सम्यग्दर्शन और पापनिवृत्तिका परिणाम है इसलिए वहाँ भी निर्जरा चलती है। पर व्रतक्रिया करनेसे निर्जरा नहीं किन्तु पापसे निवृत्ति हो गई है, उसका कारण निर्जरा है। जैसे मानो कि रागके १०० अंश हैं और रागके १५ अंश निकलने पर सम्यक्त्व हुआ और उसके बाद मानो २५ अंश और निकले तब अणुव्रत हुआ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्थात् अणुव्रतीके जो कुछ राग निकल गया, कुछ राग रह गया, यह स्थिति है श्रावकोंकी। अब व्रतोंमें जो प्रवृत्ति चलती है दया करना, सच बोलना, ऐसी जो शुभ प्रवृत्ति चलती है उसका कारण है वह बचा हुआ राग, और जो राग निकल चुका था, न रहा, उसका काम है कि पापसे हट जाना। तो पापसे जो हट गया उससे तो है निर्जरा और शुभ क्रियावोंमें जो लग रहा उससे है पुण्यका आस्रव। इसी शुभ आस्रवके प्रकरणमें इस सूत्रमें श्रावकके अणुव्रतोंके पोषक शील व्रतोंका वर्णन चल रहा है।

(१७५) **अणुव्रतपोषक सप्त शीलोंका निर्देश**—दिग्व्रत, देशव्रत अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं अर्थात् दिशावोंकी मर्यादा कर लेना कि मैं इन चारों दिशावोंमें इतनेसे बाहर किसी दूसरे देशसे लेनदेन न रखूँगा, कोई सम्बन्ध न रखूँगा, आना जाना न रखूँगा, यह दिग्व्रत कहलाता है। इसका प्रयोजन यह है कि यह श्रावक अपनी सीमाके अन्दर ही विकल्प विचार करेगा, आना जाना रखेगा, इसके बाहरसे सम्बन्ध न रहेगा तो निराकुलता रहेगी, धर्मसाधनामें बढ़ेगा। देशव्रतमें उस दिग्व्रतकी मर्यादाके अन्दर भी और छोटी मर्यादा रख ली कुछ समय नियत कर। जैसे दसलक्षण पर्वके दिनोंमें अपने नगरसे बाहर न जाना, ऐसे ही कुछ और म्याद रख ले वह है देशव्रत। उसका भी यही प्रयोजन है कि विकल्प तरंग इच्छायें न उठें। अनर्थदण्डव्रत—जिस कायके करनेसे आनन्दमें अटक आ पड़े और कर्मोंका बंध होता है उनको त्यागना यह अनर्थदण्डव्रत है। जैसे व्यर्थके पापके उपदेश करना, हिंसा की चीज दे देना, अधिक जल बखेरना, चलते-चलते पत्तोंको छेद देना, इनमें मेरा कुछ अटका नहीं है फिर भी करना अनर्थदण्डव्रत है। यों अनर्थदण्डसे विरक्त होना व्रत है। ४ शिक्षाव्रत हैं, (१) सामायिक करना, नियत समयपर नियत कालमें आत्मचिन्तन करना, (२) प्रोषधोपवास करना अर्थात् अष्टमीको उपवास किया तो सप्तमीको एकाशन, नवमीको एकाशन, फिर दशमीको उपवास यह प्रोषधोपवास है। इसके अतिरिक्त दो और व्रत हैं। (३) भोगोपभोग परिमाण और (४) अतिथिसम्विभागव्रत। इन दोनों व्रतोंका वर्णन आगे आयगा।

(१७६) **भोगोपभोगपरिमाणव्रतनामक शिक्षा व्रतका विवरण**—भोगोपभोग परिमाण—भोग और उपभोगकी चीजोंका परिमाण कर लेना। भोग कहते हैं उसे जो एक बार भोगनेमें आ जाय, फिर दुबारा न भोगा जा सके। जैसे भोजन, पानी, तेलमालिश या नहाना जिस जलसे नहा लिया उस नहाये गए जलसे फिर नहीं नहाया जाता तो यह सब भोग कहलाता है। उपभोग वह कहलाता कि भोगे छोड़े फिर भी वही चीज भोग सकता है। जैसे रोज रोज कपड़े पहनते हैं, वही घर है, वही आभरण है। जिसे रोज रोज बर्तते हैं। तो ये उपभोगकी चीजें कहलाती हैं। तो भोगोपभोग दोनोंका परिमाण कर लेना, मैं इतनी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चीज रखूँगा इससे अधिक नहीं। जिनके परिमाण नहीं है उनके दिलका कहीं टिकाव नहीं हो पाता। प्रथम तो परिग्रहका परिमाण होना चाहिए। ५ लाख, १० लाख जो भी उचित समझे, उतनेका परिमाण कर लेना। परिमाण होनेसे उसके चित्तमें तृष्णाकी दाह नहीं रहती। यों तो लखपति हैं तो करोड़पति होनेका भाव बनता, करोड़पति हैं तो अरबपति होने का भाव बनता, फिर और भी आगेके भाव बनते, बस इसी तृष्णाकी दाहमें जलते हुए सारा जीवन यों ही व्यर्थ खो दिया जाता, उसका कोई सही उपयोग नहीं हो पाता। इस मानव जीवनका सही उपयोग है धर्मपालनमें। धर्मपालनकी दृष्टि रहे इसी लिये गृहस्थको परिग्रह परिमाण करना बताया गया। भोगोपभोगमें परिमाण रखना कि मुझे इतनी ही चीज रखना, उससे आगे नहीं। आज जो प्रायः करके सब दुःखी नजर आते हैं उसमें कारण यही है कि लोगोंके चित्तमें परिमाणकी भावना नहीं है। अब जो बात कभी घरमें होती ही न थीं, वे होने लगीं। रेडियो आया, फिर टेलीविजन हुआ, फिर फ्रिज हुआ, बिजलीके पंखे हुए, पंखोंसे भी काम न चला तो कूलर लगवाये, कपड़ा धोनेकी मशीन हुई, आराम करनेके समय कोई शरीर दाबने वाला न हुआ तो उसकी भी मशीन हो गई। भला बताओ ऐसा कौनसा काम बाकी रह गया जो मशीनोसे न होता हो? अब परिग्रहका परिमाण न होनेसे मनमें एक ऐसी लालसा बनी रहती कि अभी अमुक चीजें चाहिएँ, अमुक चाहिएँ। भला बताओ इसी इसीमें चित्त बसा रहनेसे उसे आत्माकी सुध कहाँसे हो सकती? जिनका जीवन किसी न किसी कष्टमें बना रहता है ऊपरी कष्टमें, अज्ञानके कष्टमें नहीं किन्तु शारीरिक कष्ट, धन वैभव का कष्ट, परिजनका कष्ट। तो उस सुखी आदमीसे वे अधिक अच्छे हैं जिनको ज्ञान जगा है और उन कष्टोंमें अपने आत्माका स्मरण करता है और परमात्माका स्मरण करता है। बाहर से कष्ट होने पर भी भीतरमें उसको शान्ति है और एकको बाहरमें कोई कष्टके साधन नहीं हैं, बड़ा ठंढा मकान है, बहुत नौकर चाकर हैं, गद्दों तकियोंपर पड़े हैं, ये सब आराम हैं मगर अज्ञान बसा है इससे चित्तमें उसे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्तिका आधार ज्ञान है, बाहरी चीजका मिलना नहीं। तो जिसको अपने आत्माको पवित्र करनेका ध्यान है वह बाहरी भोग और उपभोगकी सामग्रीमें चित्त न रमायेगा। तो परिग्रहका परिमाण रखें।

(१७७) **पञ्च प्रकारके अभक्ष्योंकी आजीवन हेयता**—भोगकी चीजोंमें मुख्य हैं खाने पीनेकी चीजें। ५ चीजें तो ऐसी हैं कि वे तो जीवनमें कभी लेनी ही न चाहिएँ। वे क्या क्या हैं—(१) त्रसघात—जिसमें त्रसका घात होता हो, जैसे फूलगोभी, शराब, मांस, अंडा, बाजारकी सड़ी गली जलेबी, दही अचार मुरब्बे वगैरह। (२) दूसरी चीज है बहुघात अनन्त स्थावरघात–जैसे आलू अरवी, गीली हल्दी, गीली अदरख आदि ऐसी चीजें जिन्हें व्रती

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न खायें वे त्यागने योग्य हैं। (३) तीसरी चीज है प्रमाद करने वाली वस्तुएँ। जिनमें तम्बाकू मुख्य है। उसीका आज घर घर रिवाज है। जो घर बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदिक से बचा हुआ है उसके ये दोष नहीं आ सकते। व्यर्थकी चीज, नशा करने वाली चीज, व्यर्थ पैसे भी खोये, इतना तो गरीबोंको दे दिया जाय तो उनका भला हो। और लोग तो बताते हैं कि तम्बाकू खानेके कारण कैन्सर रोग हो जाता है। तो ये प्रमाद करने वाली चीजें अभक्ष्य हैं। (४) चौथी चीज है अनिष्ट। जिसके स्वास्थ्यमें जो चीज नुक्सान करे वह चीज वहाँ अभक्ष्य है। जैसे बुखार वालेको घी नुक्सान करता तो घी उसके लिए अभक्ष्य है। ५ वीं चीज है अनुपसेव्य—जैसे गायका मूत या लार। तो इनका तो वैसे ही त्याग होता है पर इनके अतिरिक्त जो खाने पीने योग्य पदार्थ हैं उनका परिमाण होना, मैं इतना सेवन करूँगा इससे अधिक नहीं।

(१७८) **अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रतका निर्देशन**—१२वाँ व्रत अथवा ७ वाँ शील है श्रावकका अतिथिसम्विभाग। जिसकी कोई नियत तिथि न हो, आने, जाने, रहने आदि की उसका नाम है अतिथि। अतिथि शब्दसे व्रती ग्रहण किया जाता है, मुनियोंका ग्रहण होता है। उनको ४ प्रकारका दान करना अतिथिसम्विभाग है। जो मोक्षके लिए उद्यमी है ऐसे अतिथिके लिए संयममें जो प्रवीण हैं, शुद्ध चित्त वाले हैं उनको निर्दोष भोजन देना, धर्मके उपकरण देना, औषधि देना और रहनेका उत्तम स्थान देना इसको कहते हैं अतिथि-सम्विभाग। पहले रिवाज था और आज भी कोई कर्तव्यपालन करना चाहे तो कर सकता कोई मुश्किल बात नहीं। पहले रोज-रोज शुद्ध भोजन बनता था और उसमें कोई अतिथि आ जाय, कोई व्रती त्यागी आये तो उसको आहार कराकर आहार करूँ, ऐसा संकल्प रहता था। अब मानो पूरा निर्दोष भोजन बनानेमें आजकल सुविधा नहीं है। इसलिए लोग क्या कहते कि जब पूरा शुद्धभोजन हमारे यहाँ बन नहीं सकता तो उसका क्यों विकल्प रखना ? पूरा ही अशुद्ध भोजन बनने दो। तो उनकी यह बात ठीक नहीं। मान लो दो ही चीजें शुद्ध बनती हैं दाल, चावल तो वह चौका अधिक अशुद्ध तो न रहा। कमसे कम इतना तो शुद्ध रखना ही चाहिए कि कोई अतिथि आ जाय तो उसे भोजन कराया जा सके। मान लो आटा घी दूध आदिक रोज-रोज शुद्ध नहीं रख पाते तो कमसे कम दाल चावल तो शुद्ध बना सकते। कभी अचानक कोई व्रती आ जाय तो उसको भोजन करानेमें दिक्कत तो न हो। पहले रिवाज था ऐसा कि प्रायः करके शुद्ध भोजन बनता था। उसे कहते हैं अतिथिसम्विभाग। उसमें अतिथिका विभाग बनाना। आजकल भी कई घरोंमें ऐसा रिवाज देखनेमें आता कि चौकेमें पहली रोटी जो निकलती उसे घरके लोग नहीं खाते, किसी अन्य प्राणीको दे देते,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो यह रिवाज मानो इस बातकी निशानी है कि पहले अतिथिको भोजन कराकर लोग खुद भोजन करते थे। तो अतिथिको आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदाग और अभयदान देना आदि ये श्रावकके बाहरव्रत कहे। अब वह बतलाते हैं कि उन बाहर व्रतोंका जीवनभर पालन करने वाला गृहस्थ अन्त समयमें क्या करे, उसका उपदेश करते हैं।

मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता ॥७-२२॥

(१७९) **मरण समय सोत्साह सल्लेखना करनेका कर्तव्य**—मरणके समयमें सल्लेखना को प्रीति सहित सेवन करे। जिसको ज्ञान जगा है और शरीरसे भिन्न अपने आत्माका स्वरूप जाना है वह जीवन भर तो व्रतका पालन कर रहा, पर अन्त समयमें जब कि अत्यन्त वृद्ध हो गए अथवा कोई उपसर्ग आ गया, कोई अत्यन्त कठिन बीमारी आ गई जिसमें यह दिखने लगा कि अब तो यह अन्त समय है तो वह उस समय उस शरीरका मोह छोड़ देता है और समाधि मरणमें अपना परिणाम लगाता है। वस्तुतः विचारें तो मरणमें जीवको नुकसान कुछ भी नहीं है। जैसे कोई पुरुष अपनी तीन चार कोठियोंमें रहता है–रातको किसी हवेलीमें रहता, सुबह किसी गोदाममें, दोपहरको किसी करखानेमें, शामको फिर किसी कोठारमें। बताओ वहाँ कुछ नुक्सान है क्या ? ऐसे ही यह शरीर भी इस जीवका घर है। कभी पशुके शरीरमें रहा, कभी मनुष्य शरीरमें, कभी देवशरीरमें, कभी कीटपतिंगेके शरीरमें। अब देख लो शरीर तो बदलते रहे पर जीव तो वही पूराका पूरा है, इस शरीरके बदलनेमें जीवका नुक्सान क्या ? पर ये मोही अज्ञानी जीव मरणसे बड़ा भय मानते हैं। मरण समयमें छूटते हुए धन वैभव कुटुम्ब परिजन आदिके समागमको देखकर बड़ा कष्ट मानते हैं। हाय मैंने बड़ा परिश्रम करके यह सब कुछ बनाया, आज यह सब हमसे छूटा जा रहा है, यह सोच सोच कर बड़ा दुःख मानते हैं। यदि मोहभाव न हो तो मरण समयमें भी उसे ऐसा लगेगा जैसे कि मानो किसी टूटे फूटे घरको छोड़कर किसी नये घरमें जा रहे हों। उसे दुःख नहीं होता बल्कि खुशी खुशीसे मरण करता है।

(१८०) **अज्ञान न रहनेपर कष्टकी अनुपपत्ति**—कष्ट जितना भी है वह सब अज्ञानमें माना जाता है। नहीं तो इस जीवनमें भी क्या कष्ट है सो तो बताओ। उस जीवकी बात कही जा रही है जिसने आत्माके स्वरूपको पहिचान लिया और उस ही आत्माकी भावना रख रहा कि मैं तो यह चाहता हूं कि यह जो मात्र अकेला आत्मा है सो ही रह जाऊँ, मेरे साथ किसी बाहरी चीजका लाग लपेट न रहे, शरीरका लपेट रहे, न कर्मका। ऐसी स्थिति चाहता हूं। ऐसी जिसकी भावना जगी है उस पुरुषको जीवनमें भी कोई कष्ट नहीं है। आप कष्टोंका नाम लीजिए, क्या कष्ट हुआ करते हैं ? धन कम हो गया इसको लोग कष्ट कहते हैं। यह ज्ञानी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सोचता है कि वे चीजें बाहर-बाहर पड़ी थीं। बाहर इतनी थीं इतनी रह गईं। मेरेमें न कुछ अधिक हुआ, न कुछ कम हुआ। और किसमें कष्ट मानते हैं लोग ? इज्जत बड़ी थी अब कम हो गई, हम देशमें बड़े नेता थे, मंत्री थे, अब चुनावमें हार गए.... अरे कोई यदि ज्ञानवान है तो वह रंच भी कष्ट न मानेगा, क्योंकि यश नाम किसका ? ये जो चलते फिरते सनीमाके जैसे चित्र नजर आ रहे इनको लोग सच समझ रहे और उनके बीच अपने सम्मान अपमान आदिकी कल्पना कर रहे और कष्ट मान रहे। जिनकी दृष्टि बाहरमें लगी है उनको कष्ट है और जिनको अपने आत्मामें लगन लगी है उनको रंच भी कष्ट नहीं है और, कष्ट क्या है ? मरण हो रहा है यही सबसे बड़ा कष्ट है। ज्ञानी जीव जानता है कि मैं आत्मा इस शरीरसे निराला हूं। अब इस घरको छोड़कर पूराका पूरा जाऊंगा, मेरा कोई बिगाड़ हुए बिना, मेरे कोई प्रदेश कटे बिना, मेरे कोई गुण मिटे बिना यह मैं पूराका पूरा अपनेमें हूं। जब मैं हूं तो मेरा इसमें कोई बिगाड़ नहीं। जिसने मोह छोड़ा, आत्माकी अभिमुखता ग्रहण की उसको किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं है। तो व्रती श्रावक अन्तमें क्या करे ? शरीर और कषाय इन को कृश करे।

(१८१) **अन्त समयमें अन्नादिके त्यागकी संगतता**—यह भी लोग सोचते हैं कि मरण समयमें व्रतीजन, मुनिजन या अच्छे श्रावक लोग क्यों छोड़ किया करते कि मेरे अन्न का त्याग, मेरे दूधका त्याग, मेरे अमुक चीजका त्याग। ये त्याग क्यों किया करते हैं ? अन्तरङ्ग कारण तो यह है कि उसमें ममता छोड़ रहे हैं, पर बहिरङ्ग कारण यह है कि ऐसा वृद्धावस्था वाला शरीर उन चीजोंका त्याग करनेमें शान्तिसे रहेगा और बुढ़ापेमें ही खाया जा रहा है तो उसे तो अनेक रोग होंगे। अफरा चढ़ेगा, गैस फूटेगी, अनेक प्रकारकी तकलीफ होंगी और त्यागमें कोई तकलीफ नहीं होती। अनेक रोग ऐसे हैं कि जिनका आप इलाज न करें तो अपने आप रोग ठीक हो जायगा। कुछ ही रोग ऐसे हैं कि जिनका इलाज करना जरूरी होता। मान लो किसीको बुखार आ रहा है उसका इलाज करना है, तो इलाज करते हुए भी करीब १५-२० दिन तो ठीक होनेमें लग ही जाते होंगेपर ऐसा भी हो सकता कि कोई यह संकल्प करके बैठ जाय कि जब तब बुखार ठीक नहीं होता तब तक न दवा लूंगा, न अन्न, सिर्फ प्यास लगने पर गरम जल या भूख लगने पर उचित फल ले लूंगा तो इस दृढ़ता से भी वह बुखार उतने ही दिनोंके अन्दर ठीक हो जायगा। बल्कि उससे भी जल्दी ठीक हो सकता। दवा लेने पर यह तो अंदेशा है कि रोग बढ़ जाय, मगर दवा न लेने पर रोग बढ़ने का तो अंदेशा नहीं, बल्कि रोगका घट जाना अधिक सम्भव है। तो यह त्याग हर स्थितिमें शान्तिका साधक बनता है। इन चीजोंका बुढ़ापेमें जो त्याग किया जाता है तो मरण समयमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह शरीर अपनी अवस्थावोंके अनुसार स्वस्थ रहता है जिसमें कि धर्मध्यान बन सकता है। अभी कोई हट्टा-कट्टा पुरुष भी खूब डटकर भोजन कर ले तो उसे भी बेचैनी होती है फिर ऐसी वृद्धावस्थामें यदि उसे खूब खिलाया जाय तो उसके पेटमे बड़ा विपरीत असर होगा। उसका धर्मध्यानमें चित्त भी नहीं लग सकता। इसलिए शरीरको कृष करनेका उपदेश है। और कषायको कृष करना, क्षीण करना यह यह तो व्रतोंका ध्येय ही है। तो यह श्रावक उस समय समाधिमरणका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

(१८) **सोल्लास सल्लेखना धारण करनेके कर्तव्यके परिचयके लिये जोषिता शब्द का उल्लेख तथा आत्मबधके प्रसंगकी अनुपपत्ति**— इस सूत्रमें कहा जा रहा है कि मरणके समयमे उत्साह और उमंगके साथ सल्लेखना धारण करना चाहिए। यहाँ क्रिया शब्द दिया है जोषिता, उसके एवजमें शंकाकार कह रहा है कि इतना कठिन शब्द क्यों रखा? सेविता यह शब्द रख देते। झट समझमें आ जाता कि सल्लेखनाका सेवन करना चाहिए। उत्तर इस का यह है कि सेवन करना और जोदिना, जोषना और जोषिताके अर्थमें अन्तर है। सेवन करना तो सामान्यरूपमें है, मगर जोषिता शब्दमें यह अर्थ बसा है कि विनयपूर्वक सेवन करना चाहिए। सेविता तो भोगकी चीजमें भी आता। भोगका विषयका सेवन करना। जोषिता शब्द केवल आदरकी क्रियामें, कर्तव्यमें आता है। तो इस सूत्रका अर्थ हुआ कि मरणके समयमें सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। यहाँ एक शंका होती है कि समाधिमरणमे लोग यही क्रिया तो करते हैं कि यह चीज छोड़ा, वह चीज छोड़ा, यों छोड़कर अपने प्राण नष्ट कर दिया, फिर यह व्रत कैसे रहा और इसके फलमें सुगति कैसे मिलेगी? तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि इस सूत्रमें भी उस प्रमत्त योगकी झाँकी है। चूंकि यह व्रतका प्रकरण है, पापका नहीं है। पापमें तो प्रमत्त योगसे यह अर्थ किया था। यहाँ अर्थ करते कि प्रमत्त योगके बिना संन्यासमरण धारण करो। प्रमत्त योगका अर्थ है—रागद्वेष मोह, स्वार्थ, खोटे भाव ये न रखे जायें और संन्यासमरण हो तो वह सल्लेखना कहलाता है। सल्लेखनामें उत्साह उमंग प्रभुकी ओर भक्ति, आत्मस्वरूपकी ओर विनय ये सब सद्गुण आते हैं। तो यों बड़े विनयसे आदरभावसे सल्लेखना धारण करना। जिसको आत्मतत्त्वका परिचय है, आत्मामें ही जिसका प्रेम है, शरीरको लोथड़ाका पिण्ड जानकर उसके प्रति जिसको मोह नहीं है वह आत्मतेजमें उपयोग रमाकर तृप्त हो रहा है। उसे और कुछ नहीं सुहाता। यह एक मरण समयकी बहुत बड़ी विशेषता है। वैसे तो ज्ञानी जीवको बाहरी कोई बात भीतर सुहाती नहीं है। एक अन्तःस्वरूप ही सुहाता है और फिर उस ज्ञानीका हो शरीर छूटनेका समय तो उसकी इस प्रगतिमें और भी विशेषता बढ़ जाती है। वैसे बाहरी बातें तो कोई साधारण व्यक्ति हो तो उसे भी मरण समय में नहीं सुहाती। जैसे किसीको फांसी दी जा रही हो तो वह आत्महत्या ही तो है, खुद न की,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दूसरे ने की। उसे वहाँ न खाना सुहावेगा, न कोई मौज। तो मरणसमयका प्रसंग ही ऐसा है, फिर जिस ज्ञानीको जीवनमें भी कुछ न सुहाया उसको आत्मस्वरूपके अतिरिक्त मरण समय में दूसरा सुहायेगा ही क्या ? केवल आत्मस्वरूपकी आराधना रहे तो वह तो प्रसन्न होकर सल्लेखना कर रहा है। वहाँ आत्महत्याका प्रसंग नहीं है।

(१८३) **सल्लेखनामरणमें आत्मबधके प्रसंगकी अनुपपत्तिके अन्य कारण**—दूसरी बात यह है कि समाधिमरण करने वालेको भी मरण अनिष्ट है, वह मरण नहीं चाहता। लेकिन मरण आ ही जाय तब वे अपने वैभवकी रक्षा करते हैं। जैसे कोई पुरुष दूकानमें आग लग जाय, यह नहीं चाहता। कोई चाहता है क्या कि मेरी दूकानमें आग लगे ? और कदाचित् आग लग गई दूकानमें और ऐसी आग लगी कि बचनेका कोई साधन नहीं, देहाती स्थल है, कोई फायर वगैरहका प्रबंध नहीं है तो उस समय विवेकी विवेक क्या करेगा कि जो धन है, जो मूल्यवान चीजें हैं उनको भंडारमेंसे जल्दी निकाल लें, यह तो बच जाय। दूकानमें आग लगती है तो लगे मगर भण्डारमें जो बहुमूल्य रत्न रखे हैं वे तो बच जायें। ठीक यही दशा समाधिमरणमें है। शरीरमें आग लग गई मायने मरण हो रहा, मृत्यु निश्चित है, मरण इष्ट नहीं है तो भी मरण आ रहा, तो उस समय विवेकी यह करता है कि मेरे भण्डारमें जो रत्न हैं—ज्ञान दर्शन चारित्र आत्मदृष्टि सम्यक्त्वादिक वे सब तो मैं बचा लूं, वे तो न नष्ट हो जायें। यह प्रीति बसी है भीतर। तो ऐसे एक उत्तम लक्ष्यको लिए हुए कोई समाधिमरण करे तो आत्महत्या कैसे कहला सकती ? हाँ समाधिमरणका नाम लेकर अज्ञानी जीव कोई यदि आहार आदिकका त्याग करके मरे और नाम भले ही समाधिमरणका धरे, मगर लक्ष्यका जिसे पता नहीं है उसके लिए आत्मबध है मगर जिसको लक्ष्यका पता है और अपने सम्यक्त्वादिक गुणोंकी रक्षाके लिए ही वह संन्यासमरण कर रहा है तो वह आत्मबध नहीं है। तीसरी बात यह है कि संन्यासमरण करने वालेको न जीनेकी चाह है, न मरनेकी। उस ओर दृष्टि ही नहीं है। एक अपने गुण रत्नकी रक्षाकी दृष्टि है। जैसे कोई यह न चाहे मुनि या विवेकी कि मेरेको ठंढ लगनेका सुख पैदा हो या गर्मी लगनेका दुःख पैदा हो और वे सुख दुःखके साधन जुट जायें तो सुख दुःख तो बने, मगर उनमें वह रागद्वेष नहीं करता। ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, मायने अपनी रक्षा करता है।

(१८४) **समाधिमरणकी भावनाकी प्रतिक्षण आवश्यकता**—वास्तविकता तो यह है कि समाधिमरण तो प्रतिक्षण करना चाहिए। मतलब क्या कि मरण दो तरहका होता है—एक तो आवीचिमरण और दूसरा तद्भवमरण। प्रतिक्षण हमारी आयु घट रही है। आयुका निषेक उदयमें आकर दूर हो रहा तो हम प्रति समय मर रहे है। आयुके नाश

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होनेका नाम मरण है। अब जो आयुका उदय आया उसका तो नाश हुआ। तो हम प्रतिक्षण मर रहे हैं, फिर ऐसा कह सकते ना जैसे कोई कहता है कि हम ५० वर्षके हो गए तो उसके मायने यह हैं कि हम ५० वर्ष मर चुके। चाहे यह कहें कि हम ५० वर्षके बड़े हो गए, उसका सीधा अर्थ है कि हम ५० वर्षकी आयु खो बैठे, मर चुके, अब थोड़ा समय और शेष रहा तद्भवमरण हो जायगा। मायने इस भवसे ही कूँच हो जायगा। तो जब हमारा मरण प्रतिसमय हो रहा है तो हमारा कर्तव्य है कि हम प्रतिसमय अपनी भावना शुद्ध रखें ताकि हमारा प्रतिक्षणमें समाधिमरण बना रहे और जो ऐसा प्रतिक्षणका समाधिमरणका अभ्यास नहीं रखता उसे अंतिम समयमें भी मुश्किल पड़ेगा समाधिमरण करनेमें। तो जिसके न जीनेका अभिप्राय है, न मरणका वह पुरुष मान लो मरणको प्राप्त हो रहा है, समय आ गया है तो उस समय वह मरणका दुःख न मानकर अपने गुणोंकी रक्षामें प्रसन्न रहता है, इस कारण संन्यासमरण करने वालेको आत्मबध नहीं होता है।

(१८५) सल्लेखनामरणको किसी भी दार्शनिक द्वारा आत्मवध कहनेकी अनुपपत्ति—चौथी बात—जो दार्शनिक यह कहते कि यह तो आत्महत्या है तो ये दार्शनिकोंके उत्तर स्वयं उनके शास्त्रसे विरोध आता है अर्थात् सिद्धान्तसे विरोध आता है। जैसे आत्मबध कहने वाले कौन हैं ? एक नाम लो। जैसे कहो कि बौद्ध हैं, जो मानते कि क्षण क्षणमें आत्मा नष्ट होता रहता है, एक क्षणको बना और नष्ट हो गया तो वह तो प्रतिक्षण नष्ट होता ही रहता है। वे तो आत्मबध कहनेको जीभ भी नहीं हिला सकते। दूसरी बात यह है कि बध की बात कहनेमें चार बातें समझनी पड़ेंगी—(१) एक तो सत्त्व प्राणी बध, (२) सत्त्व संज्ञा, (३) बध करने वाला, (४) बधका परिणाम। अब जो लोग पदार्थको एक क्षण ठहरने वाला मानते, आत्मा एक क्षण ही रहता ऐसा मानते, उनके ये चारों ही बातें नहीं बन सकतीं। हुआ और गुजरा। कौन मारने वाला कहां बधका परिणाम और कोई चीज है ही नहीं वह बहुत समय रहने वाली। ऐसे लोग अगर आत्मबधकी बात कहें तो इसमें वे जीभ भी नहीं हिला सकते। और हिलायें तो वे अपने सिद्धान्तके खिलाफ गए। कुछ लोग ऐसे हैं कि जो आत्मा ही नहीं मानते, ऐसोंकी संख्या बहुत पड़ी भई है। चारुवाक, नास्तिक ये मानते कि आत्मा कोई चीज नहीं है, और जो मालूम पड़ता कि मैं जीव हूं, सो यह पृथ्वी, जल, अग्नि वायुका सम्बन्ध होनेसे एक करेन्ट बन गया है, जो समझता है, बोलता है, चलता है। आत्मा कुछ नहीं है, ऐसा भी मानने वाले लोग हैं, तो ऐसे लोग भी आत्मवधकी बात मुखसे बोल ही नहीं सकते। जब आत्मा ही नहीं है तो फिर किसके बधकी बात बोले ? अच्छा अब एक दार्शनिक और खड़ा कीजिए। नित्यवादी दार्शनिक कहता कि यह तो इन व्रतियोंका आत्म-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बध है, तो वे भी कुछ बोल ही नहीं सकते, स्ववचनविरोध है। नित्यवादियोंका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ निष्क्रिय होता है, क्रिया न हो, विकार न हो, अदल बदल तरंग न हो तब फिर वध नामकी चीज क्या रही तुम्हारे सिद्धान्तमें ? न मरना है, न जीना है, न सुख है, न दु:ख। ऐसा नित्य मानने वाले सिद्धान्तियोंके भी आत्मबधकी बात मुखसे नहीं बोली जा सकती और बोलेंगे तो उनका सिद्धान्त गलत हो गया, फिर वह निष्क्रिय कहाँ रहा ? तो इन सब बातोंसे यह सिद्ध हुआ कि जो कषायभावके बिना आत्माके गुणोंकी रक्षाके अभिप्रायसे जो काम और कषायको छोड़ता है, कृश करता है, सल्लेखना करता है तो वह आत्मबध नहीं करता किन्तु अपने आत्माकी रक्षा करता है।

(१८६) **सल्लेखनाके समय आदिका निर्देशन**—अच्छा तो सल्लेखना कब करना चाहिए, यह एक जिज्ञासा हुई। उसका उत्तर—जब शरीर बुढ़ापेसे अत्यन्त जीर्ण हो जाय, शरीरबल पूरा खतम हो जाय, क्षीण हो जाय, रोगसे घिर जाय, जिन रोगोंसे बचना असाध्य है ऐसे वात आदिक विकारोंसे उत्पन्न हुए रोगसे घिर जाय तो ऐसा पुरुष उस समय परिणामोंमें संक्लेश न आये, इस अभिप्रायसे कोई प्रासुप साधारण चीजोंका सेवन करता है, पश्चात् उसको भी त्याग आदिक विधियोंसे काय और कषाय जिनके कृश हो रहे हैं सो आत्मभावनाका निरन्तर ध्यान रखते हुए शास्त्रोक्त विधिसे सल्लेखनाका सेवन करें। धर्मकी बात बताने और सिखानेसे नहीं आती। जिसको आत्माके धर्मस्वभावकी सुध है और आत्मस्वभावकी अनुभूति होनेसे जिसमें एक अलौकिक आनन्द जगा है वह अपने गुणोंकी रक्षाके लिए तुला हुआ है। उसे कब क्या करना चाहिए, यह कुछ नहीं सिखाना पड़ता। वह अपने आत्माकी भावनाके बलपर कुछ भी सुगमतया कर लेगा जो कुछ किया जाना चाहिए। फिर भी शास्त्रोक्त विधिसे जो जाननहार है उसको सुगमता रहती है कि हमको इस समय मरण समयमें क्या करना चाहिए ?

(१८७) **निर्मोहतामें कर्तव्योंका सुगम निर्वाह**—इस जीवकी विजय है मोहके दूर करनेमें। मोहको नष्ट करके घरमें रहने वाला गृहस्थ निरन्तर धर्मका आचरण किए हुए है। मोह मिट गया फिर भी घरमें रहना पड़ता है ऐसी कोई परिस्थिति होती है। हाँ राग किए बिना घरमें नहीं रह सकते, इतना तो है। पर मोह किए बिना कोई घरमें रहे तो वह बड़े उत्तम विधिसे घरमें रहता है। वह जानता है कि मोह करनेसे लाभ क्या ? घरमें तो यों रहना पड़ता कि शरीर साथ लगा है, भूख प्यास आदिकी अनेक बाधायें लगी हैं, उनका शान्त करना जरूरी है तो उसका उपाय भी बनाना होता, घरमें रहना पड़ता तो घरमें रहना राग किए बिना नहीं बनता। कोई घरमें लोगोंको गाली बकता रहे कि तुम सब परपदार्थ हो, नारका-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दिक खोटी गतियोंमें पहुंचाने वाले हो, बस यह ही बात कहता रहे, रागके विरुद्ध बर्ताव बनाये रहे तो बताओ उसका घरमें गुजारा हो सकता क्या ? नहीं । उसे तो घरमें भोजन पान भी ठीक ठीक न मिलेगा । कोई बड़ा कमाऊ भी हो वह सबको गाली देता फिरे तो भले ही घर के बरदाश्त कर लें मगर उनके चित्तमें उसके प्रति आदर न रहेगा । घरका रहना राग बिना नहीं बनता, पर मोह बिना तो बहुत अच्छा बनता है । जितनी अच्छी तरहसे मोही जीव घर में नहीं रह सकते उससे भी अच्छी तरहसे निर्मोहगृहस्थ घरमें रहता है । घरमें रहने वालोंकी दृष्टिमें निर्मोहीका बड़ा आदर रहेगा । उसके प्रति भीतरसे सबकी विनय होगी, डर भी रहेगा। एक भी बात वह मुखसे निकाले तो परिवारके लोग सिरपर धारण करेंगे । घरमें निर्मोह बन-कर रहे तो बड़ा सम्मानपूर्वक रहना बनता है और मोही जीव घरमें रहता है तो उसके लड़के लोग स्वच्छंद हो जाते हैं । बापका क्या डर ? बच्चे लोग जानते कि बाप तो हमपर मर रहा है, हमारे मोहमें आसक्त है, वह तो मेरे लिए सुख सुविधावोंका प्रयत्न कर ही रहा है, यदि उससे उल्टा चले तो भी क्या डर है । देखिये मोह मोहमें हो रहकर गृहस्थीमें रहना भला रहना नहीं बनता और निर्मोह बनकर गृहस्थीमें रहे तो उसके प्रति सबका सद्व्यवहार रहेगा ।

(१८८) **निर्मोह होकर जीवनकी यापनासे जीवनमें व अन्त समयमें शान्ति सुयोग का लाभ**—मोही रहकर जीवन गुजारना अपना जीवन खोना है । मोह न रखनेका मतलब क्या कि सर्वजीवोंको स्वतंत्र सत्ता वाला समझिये । घरमें जितने प्राणी आये हैं इन सबका जीव स्वरूप निराला, इनके कर्म इनके साथ, इनका सब कुछ भवितव्य इनके कर्मोदयके अनु-सार । इनपर मेरा कुछ अधिकार नहीं, इनपर मेरा कोई स्वामित्व नहीं, क्योंकि वस्तुस्वरूप ही यह है । जो जीव है वह अपने स्वामित्वमें है, अपने द्रव्य, क्षेत्र काल, भावसे परिणमता है, उसपर मेरा अधिकार नही है । सब स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ हैं, मेरे नहीं हैं, भिन्न हैं । एक यह निर्णय हो जाय कि जब इनकी सत्ता स्वतंत्र है, मेरे साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है तो ये मेरे कैसे हैं ? मेरा जगतमें परमाणुमात्र भी नहीं है, ऐसा जिसका पक्का निर्णय है उसे कहते हैं निर्मोह । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष । तो जो निर्मोह है उसको संसारमें आकुलता नहीं है । मरणसमयमें केवल एक ही दृष्टि रहती है कि मेरे आत्माकी रक्षा हो, मेरे आत्म गुण विकृत न हों, मैं आत्मस्वभावको लखता हुआ ही परभवको जाऊंगा । मरणसमयमें जैसी दृष्टि रखकर जा रहा हूं रास्तेमें भी वही दृष्टि रहेगी, जन्म समयमें भी उसीका लगार रहेगा । संस्कार रहनेसे फिर अगले जीवनमें भी उसे धर्म और ज्ञानकी बात रहेगी । इसलिए सल्लेखना करना कितना उपकारी व्रत है और इसके विरुद्ध मानो कोई जीव हाय-हाय करके मर रहा और मरते समय वह कहे कि मेरी बेटीको बुला दो, बेटेको बुला दो या पोतेको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बुला दो, उसे देख लें तो मेरी छाती ठंढी हो जायगी या लोग भी कह देते कि देखो इसके प्राण तो अमुकमें अटके हैं, उसे दिखा दो बस इनकी छाती ठंढी हो जायगी तब प्राण निकलेंगे। मानो ऐसा ही कोई मर रहा हो तो बताओ वह जो कुछ ही मिनटोंका समय जो खोटे परिणामोंमें खो दिया तो उसका फल क्या होगा ? यही कि उसका अगला भव तो सारा ही खराब हो जायगा। अथवा जिसकी आयु खोटी बंध गई है उसके मरणसमयमें संन्यासमरणका भाव हो ही नहीं सकता। जैसी गति होनी है वैसी गति हो जायगी। मरणसमयका एक आध मिनटका तो फैसला और उसी समय प्राप्त समागमोंमें हो जाय ममता तो ऐसे भावोंका जो मरण है वह अगले भवमें एक दुःखका ही उत्पन्न करने वाला है।

(१८९) **सल्लेखनासेवनके सूत्रको अलगसे कहनेका प्रयोजन**—यहाँ एक शंकाकार कहता है कि इससे पूर्वके २२ वें सूत्रके साथ इस सूत्रको जोड़ दिया जाता तो बहुत अच्छा होता। इसे अलगसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस सूत्रको अलग कहनेके तीन प्रयोजन है—(१) सात शील धारण करने वाले गृहस्थके किसीके किसी समय सल्लेखनाकी अभिमुखता होती है, सबके नहीं होती। जैसे कि दिग्व्रत, देशव्रत आदिक ७ शील प्रतिसमय रहते हैं और वे समस्त श्रावकोंके लिए अनिवार्य हैं उसकी तरह सल्लेखना व्रत सब के लिए अनिवार्य नहीं है। किसीके हो पाता है, किसीमें सल्लेखनाके कारण नहीं हो पाता। (२) श्रावक कभी कभी घर छोड़कर भी किसी स्थलपर या सत्संगमें रहे तो उसको जो सल्लेखना होगी वह श्रावकरूपसे ही होगी, इस विशेष अर्थकी सूचना देनेके लिए यह पृथक् सूत्र बनाया गया है। (३) सल्लेखनाका विधान सप्तशीलधारी गृहस्थको ही नहीं है याने केवल गृहस्थ ही सल्लेखना धारण करे, ऐसा नहीं है किन्तु महाव्रती साधुके भी सल्लेखना होती है, इस नियमकी सूचनाके लिए भी पृथक् सूत्र बनाया गया है। अब जो आचार्यदेवने कहा कि निःशल्य व्रती होता है तो उस शल्यमें माया, निदान और मिथ्यात्व—इन तीन प्रकारके शल्यों का वर्णन किया। उनसे रहित व्रतीको बताया जिसमे साबित किया कि व्रती सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है। यह तो जाना। अब उस सम्यग्दर्शनके बारेमें यह जिज्ञासा होती है कि उसमें भी कोई अपवाद होता है या न होते तो किसीके किसी मोहनीय अवस्थाके कारण अतीचार भी हुआ करते या नहीं सो उन अपवादोंको बतानेके लिए सूत्र कहते हैं।

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥७-२३॥

(१९०) **सम्यक्त्वके पांच अतिचार**—सम्यग्दर्शनके ये ५ अतिचार हैं। जैसे पहले यह संकेत किया था कि व्रतोंकी भावनायें होती हैं उसी प्रकार व्रतोंके अतिचारका भी संकेत किया जायगा। तो चूंकि व्रत सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं और सम्यग्दर्शनके भी अतिचार सम्भव हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनके अतिचारोंका वर्णन किया गया है। ये सम्यक्त्वके अतिचार स्थूल रूपसे हों तो सम्यक्त्व भंग हो जायगा पर कदाचित् किसी सूक्ष्म रूपसे होता है तो उसके कारण सम्यक्त्व प्रकृति नामक मोहनीयकर्मका उदय विशेष है अथवा व्यवहार सम्यक्त्वके विषयमें ऐसा प्रवृत्तिरूप अतिचार सम्भव है। वे अतिचार ५ ये हैं— ( ) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) अन्यदृष्टि प्रशंसा (५) अन्यदृष्टिसंस्तव। निःशंकित अंगमें निःशंकितताका वर्णन किया गया था, तो उनसे उल्टा जो भाव है वह शंका कहलाती है। जैसे किसी प्रकारका जीवनमें कुछ भय मानना या कुछ शास्त्र स्थलमें किसी प्रकारका संदेह होना यह सब शंका है और सम्यग्दर्शनके अतिचार है। निःकांक्षित अंगमें निःकांक्षितपनेका वर्णन किया गया था, उससे उल्टा भाव है कांक्षा, किसी प्रकारकी सांसारिक बातोंकी, साधनोंकी इच्छा होना कांक्षा है अथवा धर्मसेवन करते हुए भी जीवनका प्रयोजन होनेसे कभी किसी प्रकारकी कांक्षा हो जाना कांक्षा है। यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है। निर्विचिकित्सा अंगमें ग्लानिरहितपनेका वर्णन था, उससे उल्टा विचिकित्सा है। कर्मोदयभावमें खेद मानना निर्विचिकित्सा है, अथवा धर्मात्माजनोंकी सेवा करनेमें कोई ग्लानि करना विचिकित्सा है। यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है— मनसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनोंके ज्ञान और चारित्र गुणोंकी प्रशंसा करना, गुणोंका व्याख्यान करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और गुण हों अथवा न हों उन गुणोंको वचनों द्वारा प्रकट करना यह अन्यदृष्टिसंस्तव है। चूंकि मोक्षमार्गके विपरीत मार्गमें वे अन्यदृष्टि मन कर रहे हैं तो उनकी कोई बात सुहाना, उनकी स्तुति करना यह सम्यग्दर्शनमें अतिचार है।

(१६१) **अविरतसम्यग्दृष्टि, देशव्रती व महाव्रती सभीके सम्यक्त्वके अतिचार बताने के लिये 'सम्यग्दृष्टेः शब्दका ग्रहण**—यहाँ एक शङ्काकार कहता है कि यह प्रकरण श्रावकों के व्रत और शीलोंके वर्णन करनेका है। तो इसमें यह शिक्षा दी हुई है कि उस गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके ही शंका आदिक अतिचार हो सकते हैं, मुनियोंके नहीं होते हैं। क्या ऐसा ही है? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि ये अतिचार केवल गृहस्थ सम्यग्दृष्टिके ही लगते हों यह बात नहीं है, किन्तु ऐसी वृत्ति भावमुनिके हो तो उनके भी सम्यक्त्वके अतिचार लगते हैं और इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए सूत्रमें सम्यग्दृष्टि सम्यग्दृष्टेः शब्द दिया है याने ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। चाहे वह सम्यग्दृष्टि श्रावक हो या मुनि हो, जिसके ये परिणाम पाये जायें उसके ये दोष होते हैं। यद्यपि गृहस्थ व्रतीका प्रकरण आगे रहेगा तो भी यह बीचमें आया हो यह सूत्र सम्यग्दृष्टि सामान्यके लिए कहा गया है। चाहे वह गृहस्थ हो अथवा मुनि हो, ऐसा परिणाम सम्यग्दर्शनके दोषरूप है। अतिचारका अर्थ है दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थ श्रद्धानसे अतिचरण हो जाना, अतिक्रम हो जाना, उसका उल्लंघन होना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अतिचार कहलाता है। ये शंका आदिक ५ सम्यग्दृष्टिके अतिचार हैं। यहां एक जिज्ञासा होती है कि सम्यग्दर्शनके ८ अंग कहे गए हैं, सो ८ अंगोंके विपरीत परिणाम ८ ही होते हैं तो अतिचार भी ८ ही कहे जाने चाहिएँ थे फिर यहां ५ क्यों कहे गए? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि बात तो युक्त है लेकिन उन सबका इस ५ में ही अन्तर्भाव किया गया है। चूँकि अभी व्रत और शीलोमें ५-५ अतिचार आचार्यदेव कहेंगे। सो उस सामंजस्यमें सम्यग्दृष्टिके भी अतिचार ५ कहे गए हैं। सो इन पाँचोंमें वे प्रतिपक्षी गर्भित हो जाते हैं। यहाँ अमूढ़ दृष्टि अंगके विपरीत प्रतिपक्षी भावोंको प्रशंसा और संस्तव—इन दो रूपोंमें अलग अलग कहा गया है। शेष जिन किन्हीं भी दोषोंका जो सम्यक्त्वमें सम्भव है उनका इन ५ में ही गर्भित होना परखना चाहिए। अब यह जिज्ञासा होती है कि सम्यग्दर्शनके यहाँ ५ अतिचार कहे गए हैं और वे अगारी और अनगार अर्थात् गृहस्थ और मुनिके दोनोंके साधारणरूपतया सम्भव है। तो चूँकि सभीके आदिमें सम्यग्दर्शन होना ही चाहिए। सम्यग्दर्शन पूर्वक हुआ व्रत ही व्रत कहलाता है। सो सम्यग्दृष्टिके अतिचार बताया वे युक्त हैं। तो अब व्रत और शीलोंके अतिचारकी गणना करना चाहिए। सो उस ही का निर्देश करनेके लिए सूत्र कहते हैं।

व्रतशीलेषु पंच-पंच यथाक्रमम् ॥७-२४॥

(१६२) **व्रत और शीलोंके पांच पांच अतिचार कहे जानेका निर्देश**—व्रत और शीलोंके क्रमसे ५—५ अतिचार होते हैं, जो कि क्रमसे कहे जायेंगे। व्रत बताये ही गए थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। शील भी ७ बताये गए हैं—(१) दिग्व्रत, ( ) देशव्रत (३) अनर्थदण्डव्रत (४) सामायिक (५) प्रोषधोपवास (६) भोगोपभोगपरिमाण और (७) अतिथिसम्विभाग। इन व्रत और शीलोंमें ५—५ अतिचार बताये जायेंगे। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि ५ व्रत और ७ शील ये सब १२ व्रत ही तो हैं इसलिए यहाँ वृत्तेषु इतना ही शब्द दिया जाता। शील शब्द कहनेकी क्या आवश्यकता है? सूत्र भी लघु हो जाता। दिग्व्रत आदिकमें भी तो संकल्पपूर्वक नियम लिया गया है इसलिए वह भी व्रत कहलाता है। और फिर ७ शीलोंके वर्णनमें जो सूत्र आया है उस सूत्रमें ७ के नाम लेकर अन्तमें व्रतसम्पन्न: यह शब्द दिया गया है। सो वे सब व्रत ही हैं। तब सूत्रमें व्रतेषु इतना ही कहना चाहिए था। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ शील विशेषको एकदम स्पष्ट करनेके लिए शील शब्द लिख रहे हैं। यद्यपि अभिसंधिपूर्वक नियम करना व्रत कहलाता है, इस दृष्टिसे दिग्व्रत आदिक भी व्रत ही हैं, किन्तु प्रधान जो ५ व्रत कहे गए हैं अहिंसा आदिक उन व्रतोंकी रक्षा करने वाला शील होता है। ऐसा विशेष प्रकट करनेके लिए शील शब्दका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ग्रहण किया गया है। और इसी कारण दिग्व्रत आदिक शील शब्दसे ग्रहण किए गए। तब सूत्रका अर्थ हुआ ५ व्रतमें और ७ शीलोंमें ५–५ अतिचार कहे जायेंगे। इस प्रकरणमें यह सब गृहस्थोंके व्रतका ज्ञान करा रहे हैं। व्रतोंका प्रकरण होनेपर भी मुनियोंके लिए ये अतिचार नहीं कहे जा रहे, वे तो इन गृहस्थव्रतोंमे भी ऊपर उठे हुए हैं, सिर्फ गृहस्थके लिए ये अतिचार कहे जा रहे हैं क्योंकि आगे जो अतिचारोंके नाम आयेंगे, जैसे पशुओंका पीटना बाँधना, उनपर बोझा लादना यह बात मुनियोंके कभी सम्भव ही नहीं है। गृहस्थजनोंके सम्भव हो सकती इस कारण ये सब गृहस्थके ही अतिचार हैं, मुनिव्रतमें अतिचार नहीं हैं।

(१९३) **सूत्रोक्त विशिष्ट शब्दोंकी सार्थकता**—इस सूत्रमें पंच पंच शब्द दो बार कहे गए। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्रतोंमे ५–५ अतिचार होते हैं। यद्यपि एक पंच शब्द कह कर ही उसमें सस प्रत्यय लगाकर पंचस: इतना ही कह दिया जाता, दो पंच शब्द न कहने पड़ते, ऐसा भी सम्भव हो सकता था, मगर उससे सही स्पष्टीकरण नहीं हो पाता और पंच पंच इस तरह शब्द बोलनेसे एकदम स्पष्ट अर्थ निकलता है कि प्रत्येक व्रतोंमें ५–५ अतिचार होते हैं। इस सूत्रमें यथाक्रमम् शब्द देनेका भाव यह है कि आगे जो भी अतिचार कहे जायेंगे उनमें व्रतोंके नाम न दिये जायेंगे सो उन व्रतोंके नाम अपने आप क्रमसे लगा लेना चाहिए। इस प्रकार आगे कहे जाने वाले बारह व्रतोंके अतिचारोंका एक प्रकरणरूप सूत्र कहा गया है। अब प्रथम अहिंसाणुव्रतके अतिचार बतला रहे हैं। जिन अतिचारोंसे भी अगर गृहस्थ हट जाय तो उसका अहिंसाणुव्रत निरपवाद हो जाता है, वह अतिचार यह है।

बन्धबधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥७—२५॥

(१९४) **अहिंसाणुव्रतके पांच अतिचार**—अहिंसाणुव्रतके अतिचार इस प्रकार हैं। (१) किसी पशुको जो कि किसी अपने इष्ट देशको गमन करनेका उत्सुक है उसके प्रतिबंधका हेतुभूत खूटे आदिकमें रस्सी आदिकसे विशिष्ट दृढ़ बांध देना बंधन है। यह बंधन सामान्यतया गृहस्थोंको करना पड़ता है, क्योंकि गृहस्थके घर गाय, बैल, भैंस आदिक पशु भी होते हैं और वे पशु ही तो हैं। वे उद्दण्डता न करें, यत्र तत्र न भागें, इस प्रयोजनसे बाँध दिए जाते हैं। एक दूसरेको न मारें इसलिए भी बाँध दिए जाते हैं, उनको इतना मजबूत बाँधना कि कोई उपद्रव आनेपर वे वहाँसे जा न सकें और अपने प्राण गमा दें, ऐसा बन्धन बड़ा दोष करने वाला है। तो पशु आदिकको बांधना यह प्रथम अतिचार है। (२) डंडा, बेंत, रस्सी आदिकसे उनको पीटना, यह उनका बध कहलाता है। बधके मायने मात्र पीटना है। जैसे कि अवसर कभी कोई डंडा मारना पड़ता है वह अतिचार है, उनके प्राण खतम कर देना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह तो अनाचार है, क्रूरता है। उसका तो प्रकरण ही नहीं है, अवकाश ही नहीं है। केवल थोड़ा ताड़ देना यह बध कहलाता है। यह अहिंसा व्रतका अतिचार है। (३) पशु आदिकके कान, नाक आदिक अवयवोंको छेद देना छेद कहलाता है। यह अहिंसाणुव्रतका तृतीय अतिचार है। (४) पशुओंपर उनके सामर्थ्यसे बाहर भार लादना। जितना भार लादना चाहिए या सरकारी आज्ञा है या हृदय बतलाता है उससे भी कम करना उचित है। मगर उससे भी अधिक भार लादना यह अहिंसाणुव्रतका अतिचार है, क्योंकि विशेष लोभके कारण बैल आदिक पर अधिक बोझ लादा जाता है—यह दोष है। (५) भूख प्यासकी बाधावोंको उत्पन्न करना, उनके अन्न पानका निरोध करना यह अणुव्रतका ५वां अतिचार है। क्रोधवश प्रमादवश उनको समयपर अन्न पान न देना यह अहिंसाणुव्रतका अतिचार है। ये ५ अहिंसाणुव्रतके अतिचार कहे गए हैं। अब सत्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं।

मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूलेटखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥७-२६॥

(१६५) **सत्याणुव्रतके पांच अतिचार**—सत्यव्रतके अतिचार इस प्रकार हैं—(१) मोक्ष और स्वर्गके प्रयोजनभूत क्रिया विशेषोंमें अन्य प्रवर्तन करना—इस प्रकारका विचार उपदेश करना मिथ्योपदेश नामका अतिचार है। (२) स्त्री पुरुषके द्वारा एकांतमें किए जाने वाली क्रिया विशेषका प्रकाशन करना, प्रकट करना रहोभ्याख्यान नामका अतिचार है। (३) किसी अन्यने तो कहा नहीं पर दूसरेके प्रयोगके वश, जबरदस्तीके वश उसने ऐसा कहा, उसने ऐसा किया, एक छल करनेके लिए लेख लिखना कूटलेख क्रिया नामका अतिचार है। (४) कोई पुरुष स्वर्ण चाँदी रुपया पैसा आदिक धरोहर किसीके पास रख जाय और वह वापिस आकर कुछ कम माँगने लगे, उसको स्मरण न रहा कि मैं कितनी रख गया था सो वह कम माँगे तो उसे बड़े भले वचन कहकर कि हाँ ले जाइये, उतना दे देना, बाकी अधिक जो बचा है उसे हड़प लेना इस क्रियामें जो वचन बोले गए हैं वह न्यासापहार नामका अतिचार है। (५) प्रकरण और चेष्टा आदिकसे दूसरेके अभिप्रायको समझकर ईर्ष्यावश उस अभिप्रायको प्रकट कर देना साकार मंत्रभेद है। यह सत्याणुव्रतका ५ वाँ अतिचार है। सत्याणुव्रत ग्रहण करने वालेको ऐसे ५ प्रकारके व्यवहार न करने चाहिएँ। और यदि कुछ सत्यव्रतका सम्बंध लगाव रखकर भी कर रहा है तो यह सत्याणुव्रतका अतिचार कहलाता है। अब अचौर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमनोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारः ॥७-२७॥

(१९६) अचौर्याणुव्रतके पांच अतिचार—अचौर्याणुव्रतके ५ अतिचार ये हैं—[१] स्तेनप्रयोग: चोरीका प्रयोग करना, यहाँ चोरी करानेके तीन प्रयोजन होते हैं—एक तो चोरी करने वालेको स्वयमेव प्रेरणा करना, दूसरे चोरी करने वालोंको दूसरेके द्वारा प्रेरणा कराना, तीसरे चोरीमें लगे हुएको अनुमोदित करना ये सब स्तेनप्रयोग कहलाते हैं। यह अचौर्याणुव्रतका प्रथम अतिचार है। इसमें स्वयं तो चोरी नहीं की किन्तु चोरीके उपायोंमें इसने मदद की इस कारण ये अतिचार हैं। [२] चोरोंके द्वारा लाये हुए धनको ग्रहण करना सो तदाहृतादान है। इसमें दोष यह है कि दूसरोंको पीड़ा पहुंचाने का यह कारण बना क्योंकि चोर तो चोरी करके लाया और इसने उस धनको खरीदा तो उनको आगेका मार्ग मिल गया, सो परको पीड़ा हुई, राजाका भय भी यहाँ है। कोई राजा समझ ले कि यह चोरीका माल लेता है तो उसका तो सारा धन छीन लिया जा सकता। तो यह तदाहृतादान अचौर्यव्रतका अतिचार है। [३] विरुद्धराज्यातिक्रम– जो कानूनके खिलाफ हो उस राज्यनीतिका उल्लंघन करना यह विरुद्धराज्यातिक्रम है। इसमें यह भी बात गर्भित है कि उचित न्यायसे भिन्न अन्य प्रकारसे दानग्रहण करना, लेना सो अतिक्रम है। जैसे अल्प मूल्यमें प्राप्त होने योग्य महान कीमती द्रव्यको लेना। जैसे कोई हीरा खरीद लाया है, वह जानता है कि इसका बहुत मूल्य है फिर भी थोड़े मूल्यमें ले लेना यह अतिक्रम है। [४] हीनाधिकमानोन्मान—मान और उन्मान दो तरहके रूप होते हैं। मान तो धान आदिक मायनेके बर्तन प्रस्थ आदिक होते हैं और उन्मान किलो आधा किलोग्राम आदिक होते हैं। तो यहाँ न्यूनमानसे तो दूसरेको देना और बड़े मान मान बाटसे दूसरेका ग्रहण करना आदिक जो क्षणका प्रयोग है वह हीनाधिक मानोन्मान है। [५] प्रतिरूपक व्यवहार असलमें कोई दूसरी चीज मिलाकर लेने देनेका व्यवहार करना अर्थात् कुछ मिलावट करके देना लेना यह ५ वां अतिचार है। इसमें यद्यपि सीधा ही केवल देते हुएका ग्रहण नहीं किया, फिर भी ऐसा कार्य करना दोष कहलाता है। अब ब्रह्मचर्याणुव्रतके ५ अतिचार कहते हैं।

परविवाहकरणेत्वरिकाऽपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥७-२८॥

(१९७) ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार—ब्रह्मचर्याणुव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार है– (१) परविवाहकरण। विवाह कहते हैं सातावेदनीय और चारित्र मोहनीयके उदयसे

http://sahjanandvarnishastra.org/

कन्यावरण करना विवाह कहलाता है। यों दूसरेके विवाहका करना परविवाहकरण कहलाता है। जैसे किसीको शौक या धुन होती है कि एक लड़केका किसी लड़कीसे सगाई सम्बंध बने तो उसमें जो उत्सुकता और प्रयोग होता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रत वालेके लिए दोष है। (२) अपरिग्रहीताइत्वरिकागमन। इत्वरिका कहते हैं खोटी चलन वाली स्त्रीको। जिस स्त्रीने ज्ञानावरण का क्षयोपशम पाकर कुछ कला सीखी है, गुणोंको जानता है तथा चारित्र मोहनीय और स्त्रीवेदके उदयसे अंगोपांग नामकर्मके उदयसे योग्यता पायी है सो वह यदि परपुरुषोंसे गमन करे, ऐसा स्वभाव बनाये तो उसको इत्वरिका कहते हैं। यदि वह विवाहित है अथवा वेश्या आदिक है तो वह अपरिग्रहीता कहलाती है। ऐसी कुशील स्त्रीके साथ संबंध रखना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका दूसरा अतिचार है। (३) परिग्रहीता इत्वारिकागमन—जो स्त्री कुशील स्वभावकी है और विवाहित है तो ऐसी स्त्रीके साथ गमन करना, सम्बन्ध रखना ब्रह्मचर्याणुव्रतका तीसरा अतिचार है। (४) अनन्यक्रीड़ा—कामसेवनके अंगोंसे भिन्न अंगोंके प्रयोगमें कामसंस्कार जगना या विषयसेवन करना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका चौथा अतिचार है। (५) कामतीव्रानभिनिवेश—कामके बढ़े हुए परिणामको कामतीव्राभिनिवेश कहते हैं। ये ५ स्वदारसंतोष व्रतके अतिचार हैं। इस चौथे व्रतका नाम स्वदारसंतोष भी है, जिसका अर्थ है अपनी स्त्रीमें संतोष करना। उस व्रतके ये सब अतिचार हैं। यहाँ एक शंकाकार कहता है कि इसमें तो अनेक अतिचार छूट गए। जैसे कि कोई दीक्षिता है, संन्यासिनी है या अति बाला है, तिर्यञ्चयोनि वाली है, गाय घोड़ी आदिक इनका कोई यहां संग्रह नहीं हुआ, कोई पुरुष यदि इसके साथ गमन करे तो क्या वह अतिचार नहीं है? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इस व्रतमें जो ५ वाँ अतिचार कहा गया है—कामतीव्रानभिनिवेश याने कामविषयक तीव्र वासना होना इसमें ये सब गर्भित हो जाते हैं। जो परिहारके योग्य है ऐसे दीक्षिता संन्यासी—आदिकमें अगर कोई गमन वृत्ति करे तो वह कामकी तीव्र वासनाके कारण ही होता है। अतएव वह सब पंचम अतिचारमें गर्भित है। इन सब अतिचारोंमें राजभय लोकके अपवाद आदिक अनेक दोष हैं और मुख्य दोष तो अपने परिणामोंकी मलिनता है। ये सब चतुर्थ व्रतके अतिचार कहे गए हैं। अब पंचम परिग्रह विरति नामक व्रतके अतिचार कहते हैं।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥७-२९॥

१९८—परिग्रहविरतिनामक पंचम अणुव्रतके अतिचार—परिग्रह विरति नामक व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] क्षेत्रवस्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और मकानके परिमाण का उल्लंघन कर देना। इस व्रतीने व्रत धारण करते समय खेत मकान आदिक सबका परिमाण रखा था। सो उसकी सीधी संख्यामें परिमाणका उल्लंघन करनेमें व्रत भंग है, किन्तु किसी युक्तिसे उस कल्पित परमाणुका उल्लंघन करना यहाँ अतिक्रम कहा गया है। जैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किसीने चार खेतोंका परिमाण रखा था, अब ५ वाँ खेत उसके पासका बिक रहा है उसे खरीद लिया तो उसके साथ ही यह खेतकी मेड़ तोड़ देना जिससे कि चार ही कहलायें तो यह अतिक्रम है। ऐसे ही मकानके सम्बन्धमें जानना। किसी ने एक ही मकान रखा था और पासका ही मकान बिक रहा उसे खरीद लिया और तुरन्त ही अपनी दीवालमें से एक द्वार निकाल लिया, जिससे दूसरे मकानमें अपने घरमें से आना जाना बन गया और उसे एक ही मकान समझ लिया तो यह अतिक्रम है। इसमें व्रतके समय किए गए इरादेका घात है। [२] हिरण्यस्वर्णप्रमाणातिक्रम--सोने चाँदीके परिमाणका उल्लंघन करना, सीधे परिमाणका उल्लंघन करना तो वह अनाचार है, पर इसमें हो युक्तिसे कुछ बढ़ा लेना, जैसे स्वर्ण बढ़ा लिया, चाँदी घटा ली या अन्य कुछ उसमें छल बनाया तो वह अतिक्रम कहलाता है। [३] धनधान्यप्रमाणातिक्रम—रुपया पैसा आदिक धन कहलाते हैं, अनाज धान्य कहलाते हैं अथवा गौ आदिक भी धन कहलाते हैं। इन सबके परिमाणका उल्लघन करना यह परिग्रहविरति का तीसरा अतिचार है। [४] दासीदास प्रमाणातिक्रम—जो सेवक और सेविकाओंका परिमाण किया गया था उसका सीधा तो उल्लंघन किया नही संख्यामें, किन्तु दासी कम कर ली दास बढ़ा लिया आदिक ढंगसे परिमाणका उल्लंघन करना यह परिग्रहविरतिका चौथा अतिचार है। [५] कुप्यभाण्डप्रमाणातिक्रम—कुप्य कहते हैं वस्त्रोंको और भाण्ड कहते हैं बर्तनोंको। किसी देशमें बर्तनोंको भाँड़ा भी कहा जाता है। इनका परिमाण उल्लंघन करना यह ५ वां अतिचार है। इसमें भी सीधी संख्याका तो उल्लंघन नहीं किया, किन्तु जैसे वस्त्रों का परिमाण ५० गज रखा तो रखना तो ५० गज है मगर और बड़ा पना कर लेना अथवा दोहरा सिलवाकर ५० गजमें ही मान लेना इस प्रकारके उल्लघनको ५ वां अतिचार कहते हैं। लिये हुए परिमाणका उल्लंघन तीव्र लोभके अभिप्रायसे होता है, अतः ये ५ परिग्रह विरतिव्रतके अतिचार दोषरूप हैं। इस प्रकार व्रतोंके अतिचार तो कहे गए, अब शीलोंके अतिचार कहे जायेंगे। इन शीलोंमें प्रथम नाम है दिग्व्रत, सो दिग्व्रतके अतिचार कहते हैं।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ७-३० ॥

(१९९) दिग्वरति व्रत नामक शीलके अतिचार—दिग्व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं- (१) ऊर्द्धव्यतिक्रम, व्यतिक्रम सीमाके उल्लंघन करनेको कहते हैं। दिशाओंमें जानेका जितना परिमाण रखा था उस परिमाणकी अवधिका उल्लघन करना अतिक्रम है। ऐसा अतिक्रम तीन प्रकारसे हो सकता है। ऊपरकी दिशाओंमें अधिक जाना, नीचे अधिक जाना और दिशाओंमें अधिक जाना, उनमेंसे सर्व प्रथम है ऊर्द्धातिक्रम, पर्वतपर, वृक्षपर, ऊँचे टीलेपर चढ़ते जायें और कुछ सीमासे अधिक हो गया हो (२) अधःव्यतिक्रम उतना आदिक विधिसे नीचे अधिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गमन करना यह अधोव्यतिक्रम है। (३) दिशाओं विदिशाओंमें जैसे कहीं बिलोंमें प्रवेश किया, पर्वतोंकी दरारोंमें प्रवेश किया आदिक रूपसे दिशा विदिशाओंमें गमनागमन बढ़ाना तिर्यक व्यतिक्रम है। (४) पहले योजन कोश आदिक परिमाणसे दिशावोंका परिमाण किया गया था। (५) लोभवश उससे अधिककी इच्छा करना यह क्षेत्रवृद्धि कहलाती है। यह दिग्व्रतका ५वाँ अतिचार है। यहाँ कोई शंका करता है कि क्षेत्रवृद्धि कर लेना यह तो कुछ परिमाणमें अर्थात् पंचम अणुव्रतमें गर्भित हो जाता है। इस कारण इसका ग्रहण न करना चाहिए। ग्रहण करते हैं तो पुनरुक्त दोष हो जाता है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है। पहले जो इच्छा परिमाण किया है वह तो खेत मकान आदिक सम्बंधी है और यह जो इच्छा बढ़ा रहा है वह दिशावों सम्बंधी है। इन दिशाओंमें लाभ होनेपर जीवन है, अलाभ होनेपर मरण है। इस प्रकारकी स्थितिमें भी अन्य जगह लाभ हो रहा हो तो भी गमन न करना अर्थात् तृष्णामें न बढ़ना, मर्यादासे आगे गमन न करना दिग्व्रत है। दिशावोंका, खेत मकान आदिककी तरह परिग्रहबुद्धि रखकर अपना कब्जा करके परिमाण नहीं किया जाता, किन्तु इन दिशावोंकी मर्यादाका उल्लंघन प्रमादसे, मोहसे, चित्तके व्यासंगसे हो जाता है। इस प्रकार ये दिग्व्रतके ५ अतिचार कहे गए हैं। अब देशव्रतके अतिचार कहते हैं।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥७-३१॥

(२००) **देशविरति व्रतनामक शीलके अतिचार**—देशव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] आनयन—देशव्रतमें जितने समयके लिए जितने क्षेत्रमें मर्यादा की है उस क्षेत्रसे बाहर कोई व्यक्ति खड़ा है तो उसको कुछ पदार्थ लेनेकी आज्ञा देना यह आनयन अतिचार है। उस क्षेत्रसे बाहर यह व्रती स्वयं नहीं गया, इस कारण अनाचार तो नहीं है पर दूसरे व्यक्तिको भेजा इस कारण यह अतिचार है। [२] प्रेष्यप्रयोग—प्रेष्य कहते हैं सेवकको, जिसको भेजा जाता है सो स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वयं भी नहीं गया, दूसरेको नहीं बुलाया किन्तु अपने सेवक द्वारा प्रयोग कराना यह प्रेष्य प्रयोग है। [३] शब्दानुपात— जितने समयके लिए क्षेत्रमर्यादा की है उससे बाहर कोई नौकर आदिक खड़ा है तो उसे खाँसकर या अन्य प्रकार शान्त करके उस कार्यको करवाना यह शब्दानुपात है। ये सब अतिचार क्यों कहलाते हैं कि इन व्रतोंका प्रयोजन था कि लोभ और आरम्भसे हटकर इस ही क्षेत्रमें अपना आरम्भ करना ताकि विशेष पाप न हो। लेकिन इस उद्देश्यका विघात है, इन कार्योंमें इस कारण यह अतिचार है। [४] मर्यादासे बाहर कोई खड़ा हो तो उसको अपना शरीर ऐसा दिखाना जिससे यह समझता है कि मुझे देख देखकर काम जल्दी हो जायगा। इस अभिप्रायसे शरीर दिखानेको रूपानुपात कहते हैं। [५] पुद्गलक्षेप—मर्यादासे बाहर खड़े हुए नौकर चाकरोंको संकेत करने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

के लिए कंकड़ पत्थर आदिक फेंकना पुद्गलक्षेप कहलाता है। इन अतिचारोंमें खुदने मर्यादा तो नहीं लाँघा, पर अन्यसे काम करवाना है इसलिए यह अतिचार कहलाता है। अब अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार कहते हैं।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥७-३२॥

(२०१) **अनर्थदण्डविरति व्रत नामक शीलके कंदर्प कौत्कुच्य व मौखर्य अतिचार—** अनर्थदण्डव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—(१) कंदर्प—चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए रागके वेगसे मजाक संयुक्त जो अविशिष्ट वचनोंका प्रयोग होता है उसे कंदर्प कहते हैं। यह कंदर्प-अनर्थ-दण्ड है अथवा उसने साक्षात् कोई वध आदिक नहीं किया फिर भी बिना प्रयोजन ही इस प्रकारके वचनका प्रयोग करना उचित नहीं है। उसे अनर्थदण्ड विरतिका अतिचार कहा गया है। (२) कौत्कुच्य—रागके वेगसे तो हास्यमयी वचन बोले जाते हैं, सो वह हास्य भरा तो है ही, पर साथ ही वे अशिष्ट अभद्र वचन हैं ये दोनों ही बातें जब दूसरेके प्रति खोटे कायकी प्रवृत्तिके साथ की जाती हैं तो उसे कौत्कुच्य कहते हैं अर्थात् खोटी हँसीके वचन बोलना, बुरे वचन बोलना और उसके साथ ही साथ शरीरकी बुरी चेष्टा दिखाना यह कौत्कुच्य कहलाता है। (३) मौखर्य—अभद्रतासे जो कुछ भी अनर्थ बहुत वचन बोलना, अधिक बकवास करना मौखर्य कहलाता है। जो मनुष्य अधिक बोलता है उससे कितने ही अनर्थ हो जाया करते हैं इस कारण बकवास करना अनर्थदण्डविरतिका अतिचार है।

[२०२] **अनर्थदण्डविरति व्रतका असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार—**[४] असमीक्ष्यअधिकरण अर्थात् बिना बिचारे ही कुछ अधिक प्रवृत्ति कर डालना। प्रयोजन तो इसमें कुछ भी नहीं विचारा गया कि मैं किसलिए ऐसी प्रवृत्ति करूँ और यों ही किसी विषयमें भोगप्रवृत्ति कर लेना यह अनर्थदण्डविरतिका चौथा अतिचार है। यह अधिकरण तीन प्रकार से होता है—शरीर द्वारा अधिक प्रवृत्ति, बचन द्वारा अधिक प्रवृत्ति, कायअधिकरण तो यह है कि प्रयोजनके बिना जाना हुआ, ठहरा हुआ, खड़ा होता हुआ, बैठता हुआ सचित्त अचित्त पत्र फूल फलोंका छेदन करना, भेदन करना, कूटना, फेंक देना यह कायिक अधिकरण है तथा अग्नि विष आदिक वस्तुवोंका प्रदान प्रारम्भ करना यह सब बिना बिचारे कायिक अधिकरण है। बिना बिचारे वाचनिक अधिकरण क्या है कि बिना प्रयोजन कथा कहानियों का वर्णन करना तथा दूसरोंको पीड़ा पहुंचे, इस प्रकारका कुछ भी वचन बोला जाना यह वाचनिक अधिकरण है। मानसिक अधिकरण क्या है ? दूसरेका अनर्थ करने वाली बात विचारना अथवा रागभरे काव्य आदिकका चिन्तन करना यह सब मानसिक बिना बिचारे

http://sahjanandvarnishastra.org/

अधिकरण है।

(२०३) अनर्थदण्डविरति व्रतका उपभोगपरिभोगानर्थक्य नामक पंचम अतिचार—[५] जितने पदार्थोंसे उपभोग परिभोग हो सकते हैं उसके लिए उतने ही पदार्थ रखने बताये गए हैं। उससे अतिरिक्त रखना यह भोगोपभोगानार्थक्य नामका अतिचार कहलाता है। यहाँ एक शंका होती है कि भोगोपभोगकी चीजें अधिक रखना यह तो भोगोपभोग परिमाण व्रतमें बताया ही जा चुका है। इसका उस ही व्रतमें अन्तर्भाव हो जायगा। फिर इसे कहना पुनरुक्त कहलाता है, अतः इसका ग्रहण न करना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह शंका यों युक्त नहीं है कि भोगोपभोग परिमाण व्रतका अर्थ और यह कहा गया पंचम अतिचारका अर्थ शंकाकारने ठीक तरहसे नहीं समझा। भोगोपभोग परिणाम व्रतमें तो अपनी इच्छानुसार भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण किया गया था और इस तरह अन्य वस्तुविषयक पापवृत्तिका पूरा त्याग हो चुका था। इस सूत्रमें जो पंचम अतिचार कहा है उसका प्रयोजन यह है कि पहले भोगोपभोग परिमाणव्रतमें जितना भी वस्तुका परिमाण किया गया है उस परिमाण किए गएके अन्दर ही जो बात अनावश्यक है उसे रखना यह पंचम अतिचार कहलाता है। फिर भी एक शंका हो सकती है कि भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार कहे गए थे, उस ही में इसका अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी शंका ठीक नहीं है। उनके भोगोपभोग परिमाण व्रतके जो अतिचार कहे गए हैं वे सचित्त आदिकके सम्बन्धरूपसे मर्यादाका उल्लंघन करनेकी सूचनाके लिए थे। यहाँ वह प्रयोजन नहीं रखा गया है। ये सब अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार बताये गए हैं। अब सामायिक नामक शिक्षाव्रतके अतिचार कहते हैं।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥७-३३॥

(२०४) सामायिक शिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार—सामायिक शिक्षाव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—(१) काययोगदुःप्रणिधान। दुःप्रणिधान कहते हैं खोटे प्रयोगको अथवा उल्टे प्रयोगको। शरीरका खोटा प्रवर्तन करना, सामायिकमें होने वाली चेष्टावोंसे विपविपरीत प्रवृत्ति करना काययोगदुःप्रणिधान है। (२) वचनयोगदुःप्रणिधान—वचनोंका सही प्रयोग न होना, उल्टा प्रयोग होना जिसमें वर्णोंका संस्कार नहीं रहता, अर्थका भी परिचय नहीं हो पाता या वचनोंमें चंचलता रहती है वह सब वचनयोगदुःप्रणिधान है। (३) मनोयोगदुःप्रणिधान—अपने मनको शुद्ध तत्त्वके चिंतन मननके लिए समर्पित न करना, अन्य बातोंका चिंतन मनन करना यह सामायिक शिक्षाव्रतका तीसरा अतिचार है। (४) जैसा कि सामायिक व्रतमें करना चाहिए उसके प्रति सावधानी नहीं है, और किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति हो, अनु-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

त्साह हो उसमें आदरभाव ही न हो तो वह अनादर नामका चौथा अतिचार है । किसी तत्त्व में एकाग्रचित्त होकर चिंतनमें नहीं चल रहा, मन समाधानरूप नहीं है, अतएव सामायिक में की जाने वाली क्रियावोंका या पाठ आदिकका भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नामका ५ वाँ अतिचार है ।

(२०५) **सामायिक शिक्षाव्रतके तृतीय व पञ्चम अतिचारमें अन्तर प्रदर्शन**—यहाँ एक शंका होती है कि इस ५वें अतिचारका तो मनोयोग दुःप्रणिधान नामके अतिचारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । योग्य क्रियावोंको भूल जाना यह ही तो मनका विषम प्रवर्तना है । इस कारण स्मृत्युनुपस्थानका ग्रहण करना अनर्थक है । इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि मन के दुःप्रणिधानमें तो अन्यका चिन्तन चलने लगता था । मन किसी भी विषयमें दौड़ता था । वहाँ तो जो कुछ भी विचारते हुए या न विचारते हुए विषयोंमें क्रोधादिकका भाव आ जाना या उदासीनतासे मनको गिरा लेना आदिक बातें होती थीं, किन्तु इस पंचम अतिचारमें विचार तो अन्य जगह नहीं चलाया जा रहा है, सामायिकके योग्य प्रवृत्तियोंमें मनको चलाना चाह रहा है, पर परिस्पंदन होनेसे, मनकी अस्थिरता होनेसे उन सामायिक योग्य बातोंमें एकाग्रतासे नहीं लग पा रहा, इस प्रकार तीसरा अतिचार और पंचम अतिचारमें परस्पर भिन्नता है अथवा रात और दिनकी नित्य क्रियावोंका प्रमादकी अधिकताके कारणसे भूल जाना यह स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है । ये ५ सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं । अब प्रोषधोपवास आदिक व्रतके अतिचार कहते हैं ।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।७-३४।

(२९६) **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार**—प्रोषधोपवास व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—(१) अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग–चक्षुसे न देखे गएको अप्रत्यवेक्षित कहते हैं और कोमल उपकरणसे शुद्ध न किए गए को अप्रमार्जित कहते हैं । सो बिना देखी, बिना शोधी वस्तुको रख देना यह प्रोषधोपवास व्रतका पहला अतिचार है । प्रोषधोपवास व्रत में कुछ निर्बलता होनेसे ऐसा प्रमाद करने लगना कि चीजोंको अगर कहीं धरनेकी आवश्यकता है तो जमीन शोधे बिना, ठीक तरह देखे बिना उस चीजको यों ही रख देना यह प्रोषधोपवास व्रतका पहला अतिचार है । बिना देखे शोधे जमीनमें मलमूत्र क्षेपण करना यह प्रथम अतिचार है । (२) बिना देखे, बिना शोधे उपकरणोंका ग्रहण कर लेना यह प्रोषधोपवास व्रतका दूसरा अतिचार है । जैसे अरहंतदेवकी, आचार्यकी पूजा करते हुए उन पूजाके उपकरणोंका या अपने वस्त्रादिक वस्तुवोंका बिना देखे, बिना शोधे ग्रहण कर लेना यह प्रोषधोपवास व्रतका दूसरा अतिचार है । इसमें प्रमाद बसा है और अहिंसाकी उपेक्षा की गई है, इस कारण यह दोषरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है । (३) बिना देखे, बिना शोधे बिस्तर, चटाई आदिकका बिछा देना यह प्रोषधोपवास व्रतका तीसरा अतिचार है । इसमें प्रमादका और अहिंसाके प्रति उपेक्षाका दोष लगता है । (४) प्रोषधोपवास व्रतमें जो कुछ प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं उनमे आदर न होना, निरुत्साह होकर व्रत करना, सो अनागत नामका चौथा अतिचार है । प्रोषधोपवासमें क्षुधा आदिककी तो वेदना होती है उस वेदनासे मलिन होकर प्रमाद करना, योगक्रियामें आदर करना सो यह दोष है । (५) स्मृत्युनुपस्थान–प्रोषधोपवासमें की जाने वाली योग्य क्रियावोंका भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है । ये ५ प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं । अब भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं ।

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥७-३५॥

(२०७) **भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार**—भोगोपभोग परिमाण व्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] सचित्त वस्तुका प्रयोग करना सचित्त नामका प्रथम अतिचार है । [२] सचित्त सम्बंध सचित्त पदार्थसे संसर्ग की हुई वस्तुका उपयोग करना भोगोपभोग परिमाण व्रतका दूसरा अतिचार है । [३] सचित्तसम्मिश्र—सचित्त पदार्थ का अचित्तमें मेल कर देना यह तृतीय अतिचार है । द्वितीय अतिचारमें तो सचित्तका केवल संसर्ग ही था, किन्तु इस तृतीय अतिचारमें सचित्त सूक्ष्म जंतुओंसे भी आभार मिश्रित हो गया कि जिसका विभाग ही नहीं किया जा सकता है । प्रमादके कारण या मोहके कारण क्षुधा आदिसे पीड़ित व्यक्ति जल्दी मचाता है भोजन-पान करनेमें, सो वहाँ सचित्त आदिकका संबंध मिश्रण या रख देना आदिक प्रवृत्तियाँ हो जाती हैं । [४] अभिषव—जो उत्तेजक पदार्थ हैं उनका भोजन करना अभिषव नामका अतिचार है । [५] दुष्पक्वाहार—जो भोजन अच्छी तरह नहीं पकाया गया वह दुष्पक्वाहार कहलाता है । दुष्पक्वाहार करनेसे इन्द्रियाँ मत्त हो जाती हैं और ऐसे सचित्त आदिकके प्रयोगसे इन सभीके प्रयोगसे जो अतिचारमें बताया गया है, शारीरिक बाधा भी होती है, वायु आदिक दोषका प्रकोप हो जाता, फिर उसका प्रतिकार करना पड़ता, उसके आरम्भमें पाप होते, इस कारण सचित्त सम्बन्ध वाले आदि जितने भी हेय आहार बताये गए हैं उनका करना ये भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार कहलाते हैं । अब अतिथिसम्विभाग व्रतके अतिचार कहते हैं ।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥७-३६॥

(२०८) **अतिथिसंविभागशिक्षाव्रत नामक शीलके अतिचार**—अतिथिसम्विभागव्रतके ५ अतिचार इस प्रकार हैं—[१] सचित्तनिक्षेप—सचित्त कमलके पत्र आदिकपर भोजनका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रख देना सचित्त निक्षेप है। सचित्त पदार्थ है याने हरे पत्ता आदिकपर प्रासुप भोजनका रख देना यह अतिथिसम्विभाग व्रतका क्यों अतिचार है ? उसका कारण यह है कि किसी गृहस्थ के मनमें यह भाव आ सकता है कि यह अनिष्ट चीज यदि सचित्त पत्तेपर रख दी जाय तो वह फिर पात्रको देने लायक न रहेगा और घरमें उसका उपयोग हो जायगा। तो भावोंमें मलिनता इस ढंगकी आये तो वह अतिथिसम्विभाग व्रतका अतिचार है अथवा अजानकारी हो या उतावला हो और सचित्तपत्रपर रख दिया जाय तो वह अतिथिसम्विभाग व्रतमें दी जानेपर दोष कहलाता है। [२] सचित्तापिधान—सचित्त कहते हैं हरे पत्ते आदिकको और अपिधान कहते हैं ढकनेको। भोजन तो शुद्ध प्रासुप है, पर उसे हरे पत्ते आदिकसे ढांक दें तो वह अतिथिके देने लायक नहीं रहता। तो इसमें भी सचित्तनिक्षेपकी तरह दोष आता है। [३] परव्यपदेश—दूसरेके नामके बहाने देना; इसका दाता दूसरी जगह है, यह देय पदार्थ अमुक व्यक्तिका है, यह तो लेना ही है, इस तरह दूसरेका बहाना करके देना परव्यपदेश कहलाता है। ऐसा करनेमें थोड़ा मनमें पात्रको भले प्रकार खिलानेके लिए कुछ छलका अंश आता है, इस कारण दोष है। [४] मात्सर्य—दान दिया जा रहा है तो भी आदरके बिना अथवा किसीको मात्सर्य करके दान देना यह चतुर्थ अतिचार है। इसमें दाताको यह मात्सर्य हुआ। अपना नाम कीर्ति बढ़ानेके लिए कि मैंने दूसरेसे कम बार आहार नहीं दिया अथवा दूसरेसे ज्यादा बार आहार दिया—इस प्रकार मात्सर्यवश आहार दान देना यह मात्सर्य नाम का अतिचार है। [५] कालातिक्रम—भोजनयोग्य समयको टालकर अकालमें भोजन देना यह कालातिक्रम है अथवा श्रावकोंके ऐसा नियम रहा करता है कि मैं प्रत्येक अमुक तिथिको आहारदान करूँगा और कदाचित् सुन रखा कि इस तिथिके एक दिन बाद पात्र सत्संग मिलेगा अथवा उससे पहले पात्रके विहार करनेका समाचार मिला तो नियत दान देनेकी तिथि से पहले या बादमें दान करे, उस नियत तिथिके एवजमें यह कालातिक्रम रहता है। इस प्रकार ५ अतिथिसम्विभाग व्रतके अतिचार कहे गए हैं। यहाँ तक ७ शीलोंके अतिचार भी कहे जा चुके। इस तरह ५ व्रत एक सम्यग्दर्शन और ७ शील यों १३ प्रकारके नियमोंके अतिचार कहे गए हैं। अब सल्लेखना व्रतके अतिचार कहते हैं।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥७-३७॥

(२०६) **सल्लेखनाके अतिचार**—सल्लेखनाके अतिचार इस प्रकार हैं—[१] जीविताशंसा—अर्थात् जीनेकी इच्छा करना, आशंसा अभिलाषा करनेको कहते हैं। सल्लेखना व्रत तो धारण किया, पर मनमें जीनेकी याद लग रही है— मैं और जीता रहूं। वैसे जीना कौन नहीं चाहता ? संसारके सभी जीवोंको जिन्दगी प्यारी है, किन्तु यहाँ जब काय और कषायसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एकदम विरक्ति कर ली गई जिसे सल्लेखना कहते हैं तो ऐसी उच्च स्थिति पानेपर जीनेकी इच्छा होना यह दोष है। यह शरीर अवश्य नष्ट होगा, यह जलके बुदबुदेके समान अनित्य है, यह कैसे ठहर जाय ऐसा जीवनके प्रति आदरभाव होना जीविताशंसा कहलाती है। [२] मरणाशंसा—रोगोंके उपद्रव होनेसे चित्त आकुलित हो गया है और जीवनमें संक्लेश बन गया है और धार्मिक वातावरण रहनेसे समाधिमरणका भी भाव कर लिया है, अब वहाँ मरणके प्रति उपयोग जाना कि न जाने कब मरण होगा, यह तो बड़ी वेदना है, इस प्रकारकी अभिलाषाको मरणाशंसा कहते हैं। [३] मित्रानुराग—पहले जिसके साथ मित्रता थी, धूलमें खेले, बड़ी अवस्थामें भी प्रेम रहा, सलाह रही तो उनके इन सम्बन्धोंका स्मरण करना यह मित्रानुराग कहलाता है। इसने मेरेपर विपत्ति आनेके समय बहुत रक्षा की, ऐसी ऐसी विपत्तियोंमें इसने मेरा बहुत साथ दिया आदिकका भी स्मरण करना मित्रानुराग कहलाता है। अब सल्लेखना बात तो धारण किया, कुछ ही समय बाद इस शरीरको छोड़कर जाना है तो ध्यान किया जाना चाहिए सहजपरमात्मतत्त्वका, पर आत्मा और परमात्मापर ध्यान तो खचित होता। और लौकिक मित्र जनोंका चित्तमें चित्रण कर रहा है तो यह मित्रानुराग समाधिमरणका दोष है। [४] सुखानुबन्ध— जो जो सुख भोगे थे बचपनमें, बड़ेमें, उन सब सुखोंका स्मरण करना— मैंने ऐसा खाया, मैं ऐसा आराम करता था, इस तरह खेलता था आदिक प्रीतिविशेषके प्रति स्मृति करना सुखानुबंध कहलाता है। अब मरण समय तो आ रहा है शरीर छोड़कर जाना है तो परमार्थतत्त्वका चिन्तन चलता था, पर वह चिन्तन न चलकर जो भोगे गए सुखोंका चिन्तन चल रहा है वह यहाँ दोषरूप है। [५] निदान— विषयसुखोंकी उत्कर्षिता चाहना भोगाकांक्षा कहलाती है। भोगोंकी इच्छासे नियत चित्त दिया जा रहा है भोगोमें तो वह निदान कहलाता है। निदान शब्दमें नि तो उपसर्ग है और दा धातु है, जिससे अर्थ बनता है कि भोगोंकी अभिलाषाके द्वारा नियत चित्त जिसमें दिया जाय वह निदान कहलाता है। ये ५ सल्लेखनाके अतिचार हैं। अब जिज्ञासा होती है कि तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके कारणोंमें शक्तितः त्याग, शक्तितः तप— ये दो बातें कही गईं थीं और फिर शील व्रतके विधानमें अतिथिसम्विभाग व्रत बताया है। अतिथियोंके लिए दान करना अतिथिसम्विभाग व्रत है। तो दानका सही लक्षण ज्ञात न हुआ सो वह कहा जाना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होनेपर सूत्र कहते हैं।

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥७-३८॥

(२१०) **दानका स्वरूप**—अपने और पराये उपकारके लिए धनका त्याग करना दान कहलाता है। अनुग्रहका अर्थ अपना और परका उपकार करना कहलाता है। तो जो पात्रदान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किया जाता है उसमें पुण्यका संचय होना तो सोपकार है और अतिथिके सम्यग्ज्ञान संयम-पालन आदिकमें भी वृद्धि होती है तो वह परोपकार है। आहार देनेसे, ज्ञानसाधन देनेसे उनके ज्ञानसंयम आदिककी वृद्धि होती है याने वह इस श्रेष्ठ मन वाले मनुष्यभवमें आयु पाकर तत्त्वचिंतनसे आत्मशुद्धि करता है। यों स्व और परके उपकारके लिए स्वका अतिसर्ग करना अर्थात् त्याग करना दान कहलाता है। इस सूत्रके स्व शब्दका अर्थ है धन। यद्यपि स्व शब्द के अनेक अर्थ हैं चाँदी धन आदिक फिर भी यहाँ स्व शब्दसे धन वाच्य लिया गया है। याने अपने और परके अनुग्रहके लिए धनका लगाना, त्याग करना दान कहलाता है। इस सूत्रमें दानका स्वरूप कहा गया है पर उस दानेमें क्या सदा एक जैसी पुण्यभाव प्रवृत्ति रहती है या कुछ विशेषता है। यह बात कहनेके लिए सूत्र कहते हैं।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥७—३९॥

(२११) **दानकी विशेषतावोंके कारणोंका वर्णन**—विधि द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है। विधिका अर्थ है पड़गाहना आदिक। उसमें पहले पड़गाहना यह अतिग्रह है, फिर उच्च आसनपर बैठालना यह दूसरा कार्य है। पश्चात् पादप्रक्षालन करना, पैर धोना यह तीसरा कार्य है। पीछे पूजा करना, गुणानुवाद करना अर्थात् हर्ष व्यक्त करना, पश्चात् प्रणाम करना, ऐसे ही आगे दान क्रिया, विनयभाव रखना यह सब क्रियाविशेषका जो क्रम है उसका नाम है विधि। उस विधिमें गुणकृत विशेषता आना विधिविशेष कहलाता है। यहाँ विशेष शब्दका सम्बन्ध चारोंके साथ लगाया गया है। विधि विशेषके वर्णनके बाद अब द्रव्यविशेषकी बात कहते हैं, दिए जाने वाले अन्न आदिकको जो ग्रहण करते हैं उन पात्रोंका तप स्वाध्याय बढ़े, परिणामोंमें वृद्धि आवे उस प्रकारसे द्रव्य विशेष आहारदान आदिक देना यह द्रव्यकी विशेषता कहलाती है। दात्रि विशेष देने वाला पुरुष सरलपरिणामी हो, दूसरेसे स्पर्धा रखकर दान न देता हो किन्तु अपनी ही विनय प्रकृतिसे दान दे रहा है तो उसको ईर्ष्या नहीं और त्याग करनेमें विषाद नहीं। खुद देनेकी इच्छा करता है और देते हुए जिसको दिया जा रहा उसमें प्रसन्नताका भाव आ रहा है, पुण्यभाव जग रहे हैं और जो उस दानका फल है भोगभूमिमें उत्पन्न होना, तत्काल यश-कीर्ति होना, उन फलोंकी अपेक्षा न रखना, दूसरा दान देता हो तो इसमें बाधा न डालना और निदान न करना यह सब दाताकी विशेषता कहलाती है। ऐसा उच्च गुणवान दाता दातृविशेष कहलाता है। पात्रविशेष—मोक्षके कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। उन गुणोंके साथ जिसका योग है वह पात्र विशेष पात्र कहलाता है। यदि पात्रविशेष हों तो उनके लिए किया गया दान एक विशिष्ट पुण्यका कारण होता है। इन चार विशेषताओं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के कारण दानमें विशेषता आती है। अर्थात् उससे फलविशेषकी प्राप्ति होती है। जैसे योग्य जमीन आदिककी विशेषता होनेसे उसपर सौंपा गया बीज अपने कालमें कई सौ गुना फल देता है, ऐसे ही समझो कि विधिद्रव्य, दाता और पात्र इनकी विशेषता होनेसे दानमें विशेषता आ जाती है।

(२१२) **स्याद्वादसम्मत नित्यानित्यात्मक जीवमें ही विधि आदि विशेषताओंकी उपपत्ति**—अब इस प्रसंगमें दार्शनिकताकी दृष्टिसे देखनेपर यह निर्णय होता है कि स्याद्वादियों यहाँ तो विधि आदिककी उपपत्ति बनती है अर्थात् ये सब ठीक हो जाते हैं, किन्तु जो आत्मा नहीं मानते उनके दर्शनकी विधि आदिकका कोई स्वरूप नहीं बनता। यदि विधि आदिकका स्वरूप बनायेंगे तो सभी पदार्थ निरात्मक हैं, ऐसी जो उनकी मान्यता है उसे मिटाना पड़ेगा, इसी प्रकार जो क्षणिकवादी लोग हैं, जो मानते कि क्षणभरको विज्ञान उत्पन्न होता, उनके मतके अनुसार तो जो यह चर्चा है कि साधु संतजन व्रत, तप, स्वाध्याय आदि में लीन रहते हैं, वे परअनुग्रह रखेंगे, इनके लिए दिया गया दान हमारी व्रत, शील आदि की भावनाको बढ़ायेगा। यह सब अभिप्राय बन ही नहीं सकता क्योंकि उन क्षणिकवादियों ने आत्माका कुछ अस्तित्व माना ही नहीं। वे तो मानते कि आत्मा क्षण-क्षणमें नया नया उत्पन्न होता। तो उनकी इस मान्यताके अनुसार वे सब अभिप्राय नहीं बन सकते। इसी प्रकार जो दार्शनिक आत्माको नित्य अज्ञ और निष्क्रिय मानते हैं उनके यहाँ भी विधिविशेष आदिक नहीं बन सकता, क्योंकि जब आत्मा नित्य है तो उसमें कुछ परिणमन ही नहीं बन सकता, भाव भी नहीं बन सकता तो फिर ये विधि विशेष आदिक कैसे बनें? जिनका आत्मा अचेतन है अर्थात् ज्ञानगुणसे रहित है, केवल ज्ञान गुणका स्मरण होने पर ही आत्मा जान पाता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है तो उनका वह अज्ञ अचेतन आत्मा कैसे विधि आदिकका प्रसंग बना सकेगा और फिर मानो आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है और ज्ञानके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञानी बने तो आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला तो नहीं बन सकता। जैसे डंडाके ग्रहण करनेसे कोई डंडे वाला बना तो कहीं वह पुरुष डंडेके स्वभाव वाला तो नहीं बन सकता। जो लोग आत्माको सर्वव्यापी मानते हैं उनका आत्मा निष्क्रिय भी हो गया। अब उसकी विधि आदिक कैसे बनेगी? कोई दार्शनिक २४ प्रकारका क्षेत्र अचेतन प्रकृतिका कहते हैं और उस क्षेत्रको जानने वाले पुरुष चेतन माने जाते, तो वहाँ पर भी तो वह सब परिणमन वाला क्षेत्र अचेतनका है, सो उसके विधि आदिकका अभिप्राय बन नहीं सकता है। जो अचेतन है वह बुद्धिकी क्रिया कैसे कर सकेगा? और यदि प्रकृतिमें विधि आदिकके अभिप्राय हैं तो क्षेत्र अचेतन न रहा। यदि क्षेत्र निष्क्रिय आत्माका माना जाय तो वहाँ विधि आदिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं बनते । ये सब बातें तो स्याद्वादमें ही बन सकती हैं । क्योंकि वहाँ अनेकान्तका आश्रय है । आत्मा कथंचित नित्य है कथंचित अनित्य है, स्वरूपदृष्टिसे नित्य है पर्यायदृष्टिसे अनित्य है । तो उनका सम्बन्ध बनाकर यह जीव विधिविशेष आदिक विशेषताओंको कर सकता है । इस प्रकार दानका प्रकरण समाप्त होते ही यह सप्तम अध्याय समाप्त होता है ।

(२१३) **अष्टम अध्यायमें द्रव्यबन्धके विस्तारसे वर्णनकी सूचना**—मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायमें मोक्षशास्त्रके वक्तव्यमें रत्नत्रय जीवाधितत्त्वका प्रतिपादन करके उन सब तत्त्वोंके जाननेके उपाय प्रथम अध्यायमें बताये गए हैं । दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायमें जीवतत्त्वका वर्णन किया है । पंचम अध्यायमें अजीव तत्त्वका वर्णन किया है । छठे अध्याय में सामान्यतया आस्रव पदार्थका वर्णन किया है । ७वें अध्यायमें आस्रवके विशेषरूप पुण्यास्रव का वर्णन है किया है । यों ७ वें अध्याय तक आस्रव पदार्थ, पदार्थ बताये गए । अब बंध तत्त्वका वर्णन किया जाना चाहिए । आस्रवके पश्चात् सूत्रोक्त क्रममें बंधतत्त्वका क्रम वर्णन करनेके लिए बैठता है । वह बंध चेतनबंध, अचेतनबंध अर्थात् चेतनद्रव्यका परिणामरूप बंध, अचेतनद्रव्यका परिणमन रूप बंध दो प्रकारका बंध है । चेतन द्रव्यका परिणामरूप बंध तो भावबंधकी अवस्था है और अचेतन द्रव्यका परिणाम रूप बंध द्रव्यबंधकी अवस्था है । इन बंधोंका वर्णन (१) नामबंध (२) स्थापनाबंध (३) द्रव्यबंध और (४) भावबंध—इन चार रूपोंसे भी की जाती है । पर चार रूप तो एक पद्धतिमें हैं । इससे कहा जाता है द्रव्यबंध और भावबंध । उन दोनोंमें से द्रव्यबंध तो अनेक प्रकारके होते हैं । लाखको पेड़में बंध जाना, काठका काठसे बंध जाना, रस्सीका रस्सीसे बंधना, साँकलका साँकलसे बंधना, ये बहुत प्रकारके द्रव्यबंध हैं, पर यहाँ द्रव्यबंध विवक्षित है । कार्माणवर्गणावोंमें कर्मरूपता आना सो उसका वर्णन आगे किया जायगा ।

(२१४) **प्रथम सूत्रमें द्रव्यबंधके अथवा द्रव्यास्रवके हेतुवोंके वर्णनकी सूचना**—यहाँ अभी द्रव्यबंधके अथवा द्रव्यास्रवके हेतुका वर्णन करेंगे । माता पिता पुत्रसे स्नेहका सम्बन्ध बनना यह नोकर्म बंध है । इसमें भी भावबंधकी झलक आयी है और द्रव्यबंध कहलाता है कार्माणवर्गणावोंका बंध । वह परम्परासे तो चला आया और व्यक्तिगत रूपसे जिस समय जिस प्रकृतिका बंध है उस समय वह है यों आदिमान है, सो ऐसे द्रव्यबंधका हेतुभूत जो भाव है याने बंधके जो कारण हैं उनका वर्णन किया जायगा जिन भावोंके द्वारा यह द्रव्यबंध चलता है । यदि कर्मका बंध सहेतुक न हो अर्थात् आत्माके विभावपरिणामका निमित्त पाकर बनता है द्रव्यबंध सो उसमें निमित्त न हो तब द्रव्यबंध अनन्त हो जायगा । उसमें कभी नाश न हो पायगा । यदि कारण न माना जाय और चूंकि द्रव्यबंध उस द्रव्यकी योग्यता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से होता है। इसका एकान्त किया जाय तब वह द्रव्यबंध सदा रहेगा और कभी मोक्ष न हो सकेगा क्योंकि जो अहेतुक चीज है वह कैसे बोली जा सकती है? कर्मबंध यदि अहेतुक हो तो कर्मबन्ध कभी टल ही न सकेगा। सो बंध तो हुआ कार्य और आत्माके **विभावपरिणाम** हुए उस बंधके कारण, सो कार्यसे पहिले कारणोंका निर्देश किया जा रहा है, जिसके बाद फिर कर्मरूप द्रव्यका विस्ताररूपसे वर्णन चलेगा। तो छठवें ७ वें अध्यायमें जिनका विशेषरूपसे वर्णन किया गया वे ही बंधनके हेतु हैं। सो उनको संक्षेपसे सूत्र द्वारा कह रहे हैं।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥८—१॥

(२१५) **कर्मबन्धके कारणोंका निर्देश**—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंधके कारणभूत हैं। इन सब भावोंका वर्णन यद्यपि पहले कहा जा चुका, पर उन विस्तारोंका संक्षेप करके गुणस्थान परिपाटीके अनुसार संक्षिप्तरूपमें इस सूत्रमें कहा गया है। ये सब परिणाम पहले किस प्रसंगमें कहे गए थे सो सुनो—मिथ्यादर्शन तो २५ क्रियावों में जो मिथ्यादर्शन आया है मिथ्यात्व क्रिया, इसी प्रकार और भी अन्य क्रियायें हैं उनमें मिथ्यादर्शनका अन्तर्भाव होता है, अविरति है विरतिका प्रतिपक्षी। विरति न हो तो अविरति है। सो विरतिका वर्णन किया गया और विरतिका प्रतिपक्षी भाव अविरतिका भी वर्णन किया। साम्परायिक आस्रवका इन्द्रियकषाया: आदिक सूत्रमें वर्णन किया गया है। प्रमादका वर्णन कहाँ हुआ? तो उन २५ क्रियावोंमें आज्ञाव्यापादन क्रिया, अनाकांक्ष क्रिया इसमें प्रमादका अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमादका अर्थ यह है कि मोक्षमार्गमें आदर न होना और मनका समाधानरूप न होना ऐसा यह प्रमाद उन अनेक क्रियावोंमें शामिल है जिन क्रियावोंमें आस्रव बताया गया है। कषाय तो क्रोधादिक हैं ही, जिनका वर्णन अनेक जगह हुआ है। ये क्रोधादिक कहीं अनन्तानुबंधी पाये जाते हैं, कहीं अप्रत्याख्यानावरण हैं, कहीं प्रत्याख्यानावरण हैं, कहीं संज्वलनरूप हैं। इन कषायोंका भी वर्णन इन्द्रिय कषायादिक सूत्र में कहा गया है। योगका वर्णन छठे अध्यायके प्रथम सूत्रमें किया गया है। काय, वचन, मन की क्रियाको योग कहते हैं। तो इन सबका वर्णन पहले विस्तारसे आया है। उन्हींको हो संक्षिप्त प्रकारोंमें जो कि गुणस्थानके अनुसार घटित किया जा सकता, यहाँ वर्णन किया गया है।

(२१६) **नैसर्गिक व परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनका विवरण**—मिथ्यादर्शन दो प्रकारका होता है—[१] नैसर्गिक, [२] परोपदेशनिमित्तक। जहाँ दूसरेके उपदेशके बिना मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान् न होना ऐसा मिथ्याअभिप्राय बनता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। यह प्रायः सभी संसारी जीवोंमें पाया जाता है। जो संज्ञी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पंचेन्द्रिय जीव हैं और उनमें भी जो कोई धर्मकी धुन वाले हैं, पर स्याद्वादका शासन न मिलनेसे उनका प्रयोग और प्रकार हुआ है। सो वह परोपदेश निमित्तक है। नैसर्गिक, मिथ्यादृष्टि एक इन्द्रियसे लेकर चौइन्द्रिय तक तो वह ही है, पर पंचेन्द्रियमें भी अनेक नैसर्गिक मिथ्यादृष्टि हैं। दूसरेके उपदेशका निमित्त पाकर जो मिथ्यात्व जगता है वह चार प्रकारका समझिये। कोई क्रियावादी—जो क्रियाकाण्डमें ही मोक्षका मार्ग मानते हैं, कोई अक्रियावादी, कोई आज्ञानिक और कोई वैनयिक हैं। ये सब परोपदेश निमित्तक मिथ्यात्व कहलाते हैं। इनमें क्रियावादी तो ८४ हैं। ८४ तरहके नेतावोंने यह सिद्धान्त निकाला है। इन क्रियावादियोंमें मुख्य नायक प्रसिद्ध प्रणेतावोंके नाम ये हैं—कौकल, काण्ठेविद्धि, कौशिक हरि, श्मश्रुमान, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुण्ड हैं। अक्रियावादियोंके १८० प्रकार हैं, जिनका सिद्धान्त है कि कुछ भी न करना, मौजसे रहना, कोई क्रियाकाण्ड न रहना, यही मार्ग व मुक्ति कहलायगी, ऐसे अक्रियावादियोंके प्रणेता मुख्यसंन्यासियोंके कुछ नाम इस प्रकार हैं– मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वक्ति, माठर आदि अज्ञानवादी ६७ प्रकारके होते हैं, जिनका मुख्य सिद्धान्त है कि ज्ञान करना, ज्ञानका बढ़ना, यह संसार में फंसनेका ही कारण होता है। इस कारण ज्ञानके लिए प्रयत्न कुछ नहीं करना, ऐसे ही रहना, यह ही मोक्षका कारण बनेगा। इसके प्रणेता मुख्य हैं—पैप्पलाद, वादरायण, वसु जैमिनीय आदि। वैनयिकवादी ३२ प्रकारके हैं, जिनका सिद्धान्त है कि प्रत्येक देवताओंका विनय करनेसे मोक्ष होता है। इसके मुख्य प्रणेता वशिष्ट पाराशर जतुकर्ण आदि हैं। ये सब परोपदेशके निमित्तसे बने हुए मिथ्यादृष्टि ३६३ प्रकारके हैं।

(२१७) **प्राणिवधको धर्महेतु बताने वाले वचनोंकी अप्रमाणता**—यहाँ एक शंका होती है कि जैसे वेदमें प्रसिद्ध वादरायण बसु जैमिनी आदिक ऋषि जो कि वेदमें बतायी हुई क्रियावोंके अनुसार ही अपना अनुष्ठान करते हैं वे कैसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहे जा सकते? उत्तर—चूंकि उनका प्राणियोंके बध करनेमें धर्म माननेका अभिप्राय है और प्राणियोंका बध नियमसे पापका ही कारण है, उसे धर्मका साधन बताते हैं तो वे कैसे अज्ञानवादियोंमें गर्भित न होंगे? शंकाकार कहता है कि यह तो आगममें लिखा है कि यज्ञ आदिकमें प्राणियोंका बध करना पुण्यका कारण है, धर्मरूप है, मोक्षका मार्ग है। वेद आगम तो अपौरुषेय हैं। उसका कोई कर्ता हो तो आगममें दोष होता। यहाँ कर्तापनका दोष नहीं। किसी शास्त्रको कोई बनाये तो उसमें यह सम्भव है कि वह कर्ता रागद्वेषवश गलत भी लिख सकता है पर वेद तो किसी पुरुषने बनाया नहीं है, उसमें प्रमाणताका संदेह ही नहीं हो सकता और उस वेदागममें प्राणियोंके बधको धर्म माना है। इसलिए उनके रचयिता प्रणेता संन्यासी अज्ञानवादीमें कैसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गर्भित होंगे ? उत्तर—वह प्राणिवध बताने वाला आगम आगम ही नहीं है। आगम तो वह होता है जो सर्वप्राणियोंका हित करे। जो प्राणियोंके हितमें प्रवृत्त नहीं है, हिंसाका विधान करने वाला है वह वचन आगम कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि अपौरुषेय माने गये आगममें कहीं कुछ, कहीं कुछ, ऐसी परस्पर विरोधकी बातें भी आती हैं। जैसे कभी कहते हैं कि पुष्य प्रथम हैं, कहीं कहते कि पुनर्वसु प्रथम हैं, कहीं कहेंगे कि तीन वर्षके रखे हुए धान्यके बीजसे यज्ञ करना चाहिए। तो उन वचनोंमें स्थिरता नहीं आयी, फिर प्राणिवध को कैसे धर्मका हेतु कहा जा सकता है ? प्राणिवधका निषेध स्याद्वाद शासनमें भली-भाँति किया गया है। सभी जगह हिंसासे विरक्त रहना ही श्रेयस्कर है।

(२१८) स्याद्वाद शासनकी प्रामाणिकता व स्याद्वादशासनमें हेय उपादेय सभी सिद्धान्तोंका प्रतिपादन—यहाँ कोई शंका करता है कि अरहंत देवका जो शासन है, प्रवचन है वह प्रमाणभूत नहीं हो सकता, क्योंकि वह पुरुषका किया हुआ है ? तो यह शंका करना ठीक नहीं है। कारण कि ये अरहंतदेव अतिशय ज्ञानके धारी हैं। ज्ञानावरणका *विनाश होनेपर* जो आत्मा स्वच्छ सर्वज्ञ होता है उसके वचन प्रमाणभूत होते हैं। तो यह जीवादिक पदार्थोंके स्वरूपका निरूपण चल रहा है। नय प्रमाण आदिककी जानकारीके उपायोंसे खूब कसकर निर्णीत किया गया है वह अतिशय ज्ञानधारीका कहा हुआ ही तो है, जिसमें कहीं भी किसी प्राणीका अहित नहीं बताया गया और वस्तुका जैसा स्वरूप है उसी प्रकार स्वरूपका वर्णन किया गया है। एक विशेष बात यह जाननी चाहिए कि जगतमें जितने भी सिद्धान्त फैले हैं वे सब अरहंतदेवके द्वारा बताये गए हैं। जैसे पापका स्वरूप भी भगवानने बताया, पुण्यका स्वरूप भी भगवानने बताया, ऐसे ही वस्तुका स्वरूप किन दृष्टियोंसे ठीक है, वह भी बताया और उनका एकान्त होनेपर एक सिद्धान्त बनता है यह भी बताया है। तो जितने भी सिद्धांत आज प्रसिद्ध हैं वे सब अरहंत भगवानके प्रवचनसे निकले हुए हैं। कोई यहाँ यह शंका न रखे कि यह श्रद्धावश ही कहा जा रहा है। युक्तिसे विचारें तो सही न बैठेगा। यह शंका यों न करना कि जब यह इसमें ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे ग्रस्त है और यह कुछ ज्ञान नहीं कर पा रहा है तो जब वह आवरण सर्व दूर हो जाता है तो ज्ञानस्वभाव रखने वाले आत्माका ज्ञान निर्दोष पूर्ण प्रकट हो जाता है। ऐसे ज्ञानीकी दिव्यध्वनिसे निकले हुए सर्व वचन प्रमाणरूप हैं। कहीं यह न समझना कि और जगह भी रत्न पाये जाते हैं तो रत्नाकर भूमिको ही क्यों कहा जाता ? इसी प्रकार जब और जगह भी सिद्धान्त पाये जाते हैं तो सर्व सिद्धान्तोंकी खान अरहंतके प्रवचनको ही क्यों कहा जा रहा है ? यह शंका यों न करना कि भले ही वे रत्न सर्वत्र भरे हुए हैं, मगर कहीं खानसे निकले ही तो हैं, ऐसे ही ये सिद्धान्त आज बहुत फैले हुए

http://www.jainkosh.org

हैं पर इनका निर्देश स्याद्वाद शासनमें किया गया है। तो कोई यह भी कह सकता है कि जब सभी दृष्टियोंका कथन स्याद्वाद शासनसे निकला है, ये सब सिद्धान्त प्रमाणभूत हो जायेंगे तो यह बात यों युक्त नहीं है कि जैसे भूमिसे रत्न निकलते हैं और भूमिसे ही काँच आदिक निकलते हैं मगर कोई निःसार है, कोई सारभूत है तो ऐसे ही पाप पुण्य सबके व्याख्यान होते हैं मगर कोई सारभूत हैं, कोई साररहित हैं। जो अहिंसासे मेल खाते हैं वे सारभूत हैं और जो हिंसासे मेल कराते हैं वे साररहित हैं। तो परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन याने अनेक सिद्धांत जो प्रचलित हैं वे बंधके हेतुभूत हैं। इस तरह मिथ्यादर्शनको दो रूपोंमें जानना, कोई स्वयं होता है कोई दूसरेके उपदेशके कारणसे होता है।

(२१९) **प्राणिबधकी सर्वत्र हेयता**—यहाँ शंकाकार कहता है कि यज्ञ कर्मके अलावा अन्य अवसरोंमें प्राणियोंका बध करना पापके लिए होता है। यज्ञके लिए प्राणिबध पापके लिए नहीं होता। इसके उत्तरमें कहते हैं कि देखिये—चाहे यज्ञका भाव रखकर प्राणिबध हो, चाहे अन्य समय हो, प्राणीको कष्ट होता ही है और जहाँ कष्ट है वहाँ हिंसा है और जब दुःख हो रहा है उस प्राणीको और यह मारने वाला उसके कष्टको देखते हुए भी खुश हो रहा है तो यह पाप करता है और फल भी हिंसाका ही पाता है। चाहे किसी पशुका बध यज्ञकी वेदीपर हो या उस वेदीसे दूरपर हो, दोनोंमें ही दुःख है और दुःखका हेतु होनेसे कोई यज्ञ-विधि भी दुःख फल देने वाली है और बाहर की हुई हिंसा भी दुःख देने वाली है। शंकाकार कहता है कि मनुस्मृतिमें तो यह बतलाया है कि यज्ञके लिए ही पशु रचे गए हैं, इस कारण जब पशुकी रचना यज्ञके लिए है तो पशुबध करने वालोंको पाप न लगे। इसका उत्तर कहते हैं कि यह बात कहना बिल्कुल ही अयुक्त है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि ऐसी हठ हो कि पशु यज्ञके लिए ही करते रचे गए हैं तब फिर पशुवोंका दूसरा उपयोग क्यों किया जा रहा है? पशुवोंको घरमें रखना, खरीदना, बेचना, उनसे काम लेना आदिक जो अन्य प्रकार का उपयोग किया जाता है फिर उसमें दोष मानना चाहिए। सो विवेकी जन यह विचार करें कि पशुवोंको घरमें रखने या व्यवहार करनेमें पाप है या यज्ञके लिए उन्हें प्राणघात करनेमें पाप है?

(२२०) **मांसभक्षणकी लोलुपतामें मंत्र यज्ञविधानका जाल**—शंकाकार कहता है कि मंत्रकी प्रधानता होनेसे हिंसाका दोष न लगेगा। जैसे मंत्रपूर्वक विषभक्षण करनेसे मरण नहीं होता, इसी प्रकार मंत्रके संस्कारपूर्वक पशुबध किया जानेसे पाप नहीं होता। इस शंका के उत्तरमें कहते हैं कि यह अभिप्राय तो बहुत खोटे परिणामको सिद्ध करता है, इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है। जैसे मंत्रसे संस्कार किया गया विष गौरवहीन प्रत्यक्षसे ही देखा जाता है अथवा रस्सी सांकल आदिकके बंधन बिना किसी जीव या मनुष्यादिकको स्तम्भन कर दिया

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाता है, वहाँ स्थित कर देना यह प्रत्यक्षसे देखा जाता है, तो केवल मंत्रबलसे यह सब नजर आता है। इसी प्रकार यदि केवल मंत्रोंसे यज्ञकर्ममें पशुवोंको डाला जाने वाला देखें तो मंत्र बलकी श्रद्धा करना चाहिए अर्थात् जैसे मंत्रबलसे उस वस्तुको छुवे बिना ही स्तम्भन आदिक बन जाते हैं ऐसे केवल मंत्रसे ही वे पशु यज्ञमें पहुंच जायें तब तो कुछ इसपर विचार करने लगें, पशुको जबरदस्ती ही ढकेल कर जलती हुई अग्निमें लोग पटकते हैं तो मंत्रबल कहाँ रहा? मंत्रबल तो तब कहलाता कि यहाँ मंत्र पढ़ रहे और वहाँ पशु अपने आप अग्निमें गिर रहा हो। नहीं तो केवल तुम्हारा कपट है। मांस खानेके लोलुपी व्यवहारमें भी अच्छे माने जायें और माँस भी खानेको मिले, केवल इस लालसा और कपटसे यह पशुबलिका ढोंग रचा गया है। जैसे शस्त्रादिकसे प्राणियोंको मारने वाले खोटे भाव होनेसे पापसे बंधे जाते हैं, ऐसे ही मंत्रोंके द्वारा भी पशुओंको मारने वाले लोग खोटे कर्मोंका बंध करते, हिंसाका दोष टाल नहीं सकते। पुण्य और पापके बंधके जो कारण हों वे पुण्य पाप कर्मका बंध करते ही हैं। शुभभाव होनेसे पुण्य कर्मका बंध होता है और अशुभ भाव होनेसे पापकर्मका बंध होता है। सो इस बातको कोई मना नहीं कर सकता। यदि पुण्य पाप बंधके नियत कारणोंमें फेर कोई करदे तब तो दंध और मोक्षकी प्रक्रिया ही खतम हो जायगी।

(२२१) **एकान्तदर्शनमें यज्ञकर्तृत्वको अनुपपत्ति**—अच्छा ये यज्ञमें पशुबध करनेको पुण्य मानने वाले यह बतायें कि अग्नि हवन आदिक क्रियावोंका करने वाला कौन है अथवा कोई भौतिक वस्तु है या पुरुष है? यदि भौतिक पिण्ड देह अग्नि हवनका कर्ता है तो ये देहादिक तो अचेतन हैं घट आदिककी तरह सो इस शरीरमें, इस भौतिक पिण्डमें पुण्य पापरूप क्रियाका अनुभव नहीं होता इसलिए यह तो कर्ता हो ही नहीं सकता। अब रहा पुरुष याने जीव, सो वह अनित्य है या क्षणिक है यह बताओ? याने अग्नि हवन आदिक क्रियावोंका करने वाला यदि जीव है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि कहा जाय कि वह अनित्य है, क्षणिक है तो क्षण भरको आत्मा हुआ, फिर न रहा, मंत्र कौन बोलेगा? उसके अर्थका कौन स्मरण करेगा? उसका प्रयोग कौन करेगा? वह तो एक क्षणको ही हुआ और नष्ट हो गया, तो ये सारे कार्य हो ही नहीं सकते। मनन बन सकेगी, न क्रिया हो सकेगी। इस यज्ञकर्ता जीवको क्षणिक माननेपर कर्तापन नहीं बनता। यदि कहा जाय कि उस यज्ञ हवन आदिकका कर्ता पुरुष नित्य है तो नित्यके तो मायने यह हैं कि हमेशा एकसा ही रहे। उसमें कुछ भी बदल न हो। तो पहले और बादमें समयमें जब वह एक समान ही रहा तो उसमें कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। तो कर्तृत्व तो दूरसे ही हट गया। तो जब कर्तापन बन नहीं सकता तो क्रियाका फल कैसे प्राप्त होगा? और फिर जो यह कहा है पुरुषके बारे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में कि दुनियामें जो कुछ दिख रहा है या सत् है, हुआ था, होगा, वह सब यह पुरुष ही है। तो जब एक पुरुषका एकान्त मान लिया गया तो फिर वहाँ यह बध्य है, यह मारने वाला है, यह कोई विवेक ही न बन सकेगा कि कौन क्या कर रहा है ? कुछ भी नहीं, क्रिया भी न बन सकेगी।

(२२२) **निज निज स्वरूपास्तित्वमय जीवोंका अपनी अपनी योग्यतासे विविध विपरिणमन**—पुरुषको अपरिणामी चेतनाशक्ति मात्र मानती है तो फिर दिखने वाला यह नानारूप जो जगत है यह फिर न ठहरेगा, इस कारण पुरुषको सर्वथा एक मानना, नित्य मानना यह वस्तुस्वरूपके विरुद्ध है। अथवा जब एक ही रहा और चेतना शक्तिमात्र रहा तो न कुछ प्रमाण कहलायगा और न कुछ प्रमाणाभास कहलायगा, क्योंकि प्रमाण व प्रमाणाभासका भेद बाह्यपदार्थकी प्राप्ति अप्राप्तिपर निर्भर है सो मानते नही। तो ऐसे निर्विकल्प जीव तत्त्वकी, पुरुषतत्त्वकी कल्पना करने पर जब वह निर्विकल्प है ऐसा विकल्प होता तो निर्विकल्पैकान्त कहाँ रहा ? यदि निर्विकल्पका विकल्प नहीं तो निर्विकल्प कहाँ रहा, ऐसे ही संकरदोष होना, वचनविरोध होना ये अनेक दोष वहाँ आते हैं। इस कारण जो विषयतृष्णासे व्याकुल पुरुष हैं उनके द्वारा माने गए हिंसादिपोषक वचन प्रमाणभूत नहीं हैं। इस तरह परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके भेद अनेकों, हजारों, लाखों प्रकारके समझना चाहिए। आत्माकी दृष्टिसे तो मिथ्यादर्शनके विकल्प अनगिनते हैं। अनुभागकी दृष्टिसे याने फलशक्ति की दृष्टिसे वे अनन्त हैं। तो जो दूसरा नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है सो भी अनेक प्रकारका है। स्वामीके भेदसे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी तिर्यंच म्लेच्छ पुरुष आदिकके भेदसे उनके अभिप्रायोंके फर्कसे अनेक प्रकारके हैं।

(२२३) **मिथ्यात्वकी पञ्चविधता**—यह प्रकरण बंधके हेतुका चल रहा है। कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या भाव हैं उनमें सूत्रोक्त प्रथम मिथ्यादर्शनका विवरण चल रहा है। यह मिथ्यादर्शन ५ प्रकारसे भी देखा जाता है—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) संशय, (४) वैनयिक और (५) अज्ञान। एकान्त मिथ्यात्व किसे कहते हैं ? किसी भी धर्म या धर्मीका एकान्त विकल्प करना, यह ऐसा ही है और उसके प्रतिपक्षभूत अन्य धर्मोंको मना करना यह एकान्तमिथ्यात्व है। जैसे यह सारा जगत एक पुरुष ही है ऐसा एकान्त करना और सर्व सतोंका लोप करना यह एकान्तमिथ्यात्व है अथवा जीवको सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना आदिक अनेक एकान्त मिथ्यादर्शन होते हैं। विपरीत मिथ्यात्व क्या है ? जैसे कोई साधु परिग्रह रखता हो और उसे निर्ग्रन्थ बताना, प्रभु केवलज्ञानी अरहंत को कवलाहार करने वाला बताना, स्त्रीकी मुक्ति बताना आदिक जो विपरीत कथन हैं, अभि-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्राय है वह विपरीत मिथ्यादर्शन है। संशयमिथ्यात्व—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है या नहीं, ऐसी बुद्धिकी द्विविधा करना, ऐसा ही अन्य तत्त्वके बारेमें यह ऐसा है या नहीं, इस प्रकारकी द्विविधा बुद्धिमें रखना संशयमिथ्यात्व है। वैनयिकमिथ्यात्व—सभी देवताओंका, सभी धर्मोंका एक समान विनय करना, उन सबको सही समझना यह वैनयिक मिथ्यात्व है। अज्ञानमिथ्यात्व—यह हितरूप है, यह अहितरूप है इस प्रकारकी परीक्षा करने की क्षमता ही न हो, अज्ञान बसा हो वह अज्ञानमिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार बंधके कारणोंमें मिथ्यादर्शनके सम्बंधमें कुछ वर्णन किया।

(२२४) **बन्धहेतुभूत अविरति कषाय योग व प्रमादोंका निर्देश**—अब अविरति आदिकके सम्बन्धमें कुछ वर्णन करते हैं। अविरति १२ प्रकारकी होती है—६ विषय अविरति और ६ काय अविरति। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण तथा मन—इन ६ के विषयभूत पदार्थोंमें आसक्त रहना, इनसे विरक्त न हो सकना सो अविरति कहलाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय, इनकी हिंसासे विरक्त न होना यह हिंसा अविरति कहलाती है। इस प्रकार अविरति भावना १२ प्रकारकी होती है। यह कर्मबंधके हेतुभूत है। कषाय २५ होती हैं, उनमें १६ तो कषाय हैं और ९ ईसत कषाय हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें होती हैं और ये प्रत्येक मिथ्यात्वका पोषण करने वाली, संयमासंयमको न होने देने वाली, संयमका घात करने वाली और आत्माके यथार्थस्वरूपको प्रकट न होने देने वाली ऐसी चार-चार प्रकारकी कषायें होती हैं। यों कषायके १६ भेद हैं—नोकषाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, ये ९ भाव होते हैं, योग १५ होते हैं—४ मनोयोग—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग, (४) अनुभय मनोयोग, ऐसे ४ प्रकारके मनका आलम्बन कर जो परिस्पंद होता है, आत्मचंचलता होती है वह मनोयोग है। चार वचनयोग—(१) सत्यवचनयोग, (२) असत्यवचनयोग, (३) उभयवचनयोग, (४) अनुभयवचनयोग और ७ काययोग—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिक मिश्र काययोग, ये मनुष्य और तिर्यंचोंके शरीर परिस्पंदविषयक योग हैं, (३) वैक्रियक काययोग, (४) वैक्रियक मिश्रकाययोग, ये देव और नारकियोंके शरीरविषयक योग हैं। (५) एक कार्माण काययोग है। विग्रहगतिके जीवके कर्मनिमित्तक योग होता है, (६) एक होता है आहारक काययोग, (७) एक होता है आहारक मिश्र काययोग, जो प्रमत्तविरत मुनिके सम्भव है। ये सब योग कर्मबंधके कारणभूत होते हैं। प्रमाद अनेक प्रकारका होता है। जैसे आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें उत्साह न होना, अनादर होना प्रमाद है—भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि अर्थात् देख-भालकर चलना भैक्ष्यशुद्धि, शयनासनशुद्धि,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रतिष्ठापनशुद्धि शुद्धि, याने किसी भी वस्तुको हिंसारहित जगहपर देखभाल कर धरना और वाक्यशुद्धि, इन आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें प्रमाद करना और क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य–इन दसलक्षण धर्मोंमें उत्साह न होना, अनादर होना, यह प्रमाद कहलाता है। प्रमादके अनेक भेद होते हैं, फिर भी इनका संक्षेपरूप किया जाय तो प्रमाद १५ प्रकारके होते हैं। ५ इन्द्रियके विषयोंकी रुचि होना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके वश रहना, स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथा और भोजनकथा इन चार प्रकारकी विकथाओंमें उलझे रहना, निद्रा एवं स्नेह ऐसे प्रमादके १५ भेद होते हैं। इन १५ भेदोंमें एकके साथ एक रखकर बदलकर इनके ८० भेद हो जाते हैं। तो ये प्रमादके प्रकार कर्मबन्धके हेतुभूत हैं।

(२२५) **गुणस्थानोंके अनुसार बन्धहेतुवोंका घटन**—जहाँ प्रमाद नहीं है और कषाय है वह कषाय इस सूत्रमें विवक्षित है। कषाय तो मिथ्यादर्शन आदिक सबके साथ है पर ऐसी भी कषाय होती है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद ये तीनों नहीं हैं और कषाय चल रही है, तो अभी जो यह कहा गया है इसको गुणस्थानके अनुसार लगाया जाता है, इस विधिमें सूत्रोक्त क्रम उचित विदित होता है। मिथ्यादृष्टिके ये पाँचों ही बंधहेतु पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक मिथ्यात्वके बिना शेष चार बंधहेतु हैं, ५ वें गुणस्थानमें अविरति, प्रमाद कषाय और योग पाये जाते हैं, छठे गुणस्थानमें प्रमाद, कषाय और योग हैं, ७ वें गुणस्थानसे लेकर १० वें तक कषाय और योग हैं, और ११ वें, १२ वें, १३ वें गुणस्थानमें केवल योग ही है। १४ वें गुणस्थानमें बंध होता नहीं है।

(२२६) **प्रमाद और अविरतिमें भेद होनेसे सूत्रमें दोनोंके ग्रहणकी सार्थकता**—यहाँ एक शंकाकार पूछता है कि अविरत और प्रमादमें तो कोई भेद है ही नहीं, फिर अलग-अलग क्यों कहे गए हैं? उत्तर—प्रमाद और अविरति इनमें भेद है। अविरति भाव तो किसी भी व्रतके न होनेका है और प्रमाद अविरति अवस्थामें भी हो सकता है और व्रत अवस्थामें भी हो सकता है। जो विरत हैं, महाव्रती हैं उनके भी १५ प्रमाद सम्भव होते हैं। इस कारण अविरतिमें और प्रमादमें अन्तर है। अविरतभाव तो प्रथम गुणस्थानसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक होता है। पंचम गुणस्थानमें कुछ विरत भाव है, कुछ अविरत भाव है, जिसे संयमासंयम कहते हैं। और विरत याने महाव्रत सकलव्रत छठे गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक है और प्रमाद अवस्था पहले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तक होती है। तो छठे गुणस्थानमें सकलव्रती मुनि हो गया है फिर भी उसके प्रमाद सम्भव है। प्रमाद १५ बताये गए हैं, ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियविषय, १ निद्रा और १ स्नेह। इस प्रकार प्रमाद और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अविरतिमें भेद होनेसे दोनोंका इस सूत्रमें ग्रहण किया गया है।

(२२७) **कषाय और अविरतिमें भेद होनेसे सूत्रमें दोनोंके ग्रहणकी सार्थकता**—अब शंकाकार कहता है कि कषाय और अविरतिमें तो कोई भेद नजर नहीं आता, क्योंकि कषाय में भी हिंसा आदिक परिणाम रहते हैं और अविरतिमें भी हिंसा आदिक परिणाम रहते हैं। तो जब इन दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है तब फिर दोनोंका ग्रहण क्यों किया ? एकका ग्रहण करते ? उत्तर—कषाय और अविरतिमें भी किन्हीं दृष्टियोंसे भेद है। प्रथम तो कार्यकारण भेद पड़ा हुआ है। कषायें कारणभूत हैं और हिंसा आदिक अविरति कार्यभूत हैं। जैसे कि विदित होता है कि कषायोंके करनेके कारण अविरति भाव बनता है तो कषाय कारणरूप है और हिंसा आदिक अविरति ५ पाप कार्यरूप हैं, इस कारण इनमें अन्तर है। फिर दूसरी बात यह है कि कषाय तो पहले गुणस्थानसे लेकर १० वें गुणस्थान तक होती है। कहीं अधिक, कहीं कम, कहीं और कम, किन्तु अविरतिभाव प्रथम गुणस्थानसे लेकर चौथे गुणस्थान तक होता है। अविरतिभावमें विशेष अशुद्धता है ? कषायभावमें विशेष अशुद्धता भी है, कम अशुद्धता भी है। इसके कितने ही दर्जे होते हैं। इस कारण कषाय और अविरतिमें अन्तर है और इसी वजहसे सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया गया है।

(२२८) **अनादिकर्मबन्धनबद्ध जीवके कर्मबन्धकी उपपत्ति**—अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि बंधके हेतुवोंको बहुत विस्तारपूर्वक कहा गया है, पर यहाँ एक संदेह यह होता है कि आत्मा तो अमूर्त है, उसके हाथ पैर आदिक होते ही नहीं हैं। तो वे कर्मको ग्रहण करनेकी शक्ति कैसे रखते हैं ? जैसे कोई पुरुष हाथ पैर वाला है तो कर्मोंको ग्रहण करनेकी शक्ति रखता है, ग्रहण भी करता है पदार्थोंको, परंतु आत्माके तो अंग ही नहीं है फिर किसी वस्तुका ग्रहण करना ही नहीं बन सकता। फिर बंध कैसे हो जाता ? समाधान—देखिये कर्म व आत्मामें यह पहले था, यह बादमें आया—यह अवधारण नहीं किया जा सकता, फिर इसमें ग्रहणका मतलब हाथ पैरसे ग्रहण करनेका सोचना ही नही है। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि पहले आत्मा ही आत्मा था पीछे कर्म आया या पहले कर्म ही कर्म था पीछे आत्मा आया। तो जब आत्मा और कर्मके बंधके विषयमें पहली बात कुछ नहीं है, अनादिसे ही बंधसंतति है। तो इससे यह सिद्ध होता है कि आत्माको संसार अवस्थामें एकान्ततया अमूर्त कहना गलत है। आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, तो संसारी आत्मा कर्मबद्ध पिण्डमें अवस्थित होनेसे कथंचित् मूर्त बन गया तो कर्मशरीरसे सम्बन्ध रखने वाला यह जीव अब कर्मपुद्गलको ग्रहण कर लेता है। जैसे कि तपा हुआ लोहेका गोला चारों ओरसे जलको ग्रहण कर लेता है, यही बात सूत्रमें कहते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥८-२॥

(२२६) **सूत्रमें कथित कषाय शब्दसे बन्धविशेष व विपाकविशेषकी सूचना**—सकषायपना होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। यही बंध कहलाता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि कषायका तो प्रकरण ही चल रहा है। प्रथमसूत्रमें भी कषाय शब्द आया था, फिर यहाँ कषायका ग्रहण करना पुनरुक्त हो गया अर्थात् कषाय शब्द बोलनेकी आवश्यकता इस सूत्रमें नहीं है। यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कषाय शब्द देनेसे कुछ विशेष विपाकका आशय सिद्ध होता है जठराग्निकी तरह। जैसे जठराग्निकी योग्यता के अनुरूप आहारका पचना होता है। जिसमें जैसी जठराग्नि है, याने किसीकी पाचन शक्ति उदरकी उतनी तीव्र है कि उसमें अनेक कठोर आहार भी पक जाते हैं, किसीकी मंद है तो वैसा पाक होता है, ऐसे ही तीव्र, मंद और मध्यम कषायके अनुसार कर्मकी स्थिति और अनुभाग पड़ता है यह एक तथ्य बतानेके लिए, यद्यपि बंधके कारणोंमें कषायोंका निर्देश किया जा चुका था तो भी कषायका यहाँ पुनः ग्रहण किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता कि जिसके जैसी कषाय है उसके वैसी हो पुद्गल कर्मकी स्थिति और अनुभाग पड़ता है।

(२३०) **प्राणधारी जीवके बन्धकी उपपत्ति**—इस सूत्रमें प्रथम पद है जीवः। इस जीव शब्दसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जो आयु सहित हो सो जीव है अर्थात् आयु सहित जीव ही कर्मबंध करता है। आयुसे रहित सिद्ध भगवान है, उनके कर्मबंध नहीं होता। यद्यपि १४ वें गुणस्थानमें भी आयु है पर उस प्रभुको सिद्धकी तरह ही समझना चाहिए। तो जो संसारी जीव है, दस प्राणकर जीता है, आयु करके सहित है वह जीव कर्मबंध करता है, यह अर्थ होता है जीवः शब्द कहने से। जीव शब्दका अर्थ भी धातुकी दृष्टिसे प्राणधारी है। जीव प्राणधारणे ऐसा धातु पाठमें बताया है। अर्थात् जो प्राणोंको धारण करे सो जीव है। प्राणोंमें आयु भी प्राण है, अन्य भी प्राण हैं। जिसके आयु है उसके साथमें सम्भव सब प्राण होते ही हैं। केवल एक १४ वाँ गुणस्थान ऐसा है कि जिसमें केवल आयु है, अन्य प्राण नहीं है, पर वह आगमसिद्ध बात है। इसलिए समझ लेना चाहिए कि १४ वें गुणस्थानमें बंध नहीं। पर अन्य सभी संसारी जीवोंके बंध चलता है।

Version 1